****

MANUSHYA KA KARTAVYA

BHAG (2)

(Hindi)

****

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

विषय		पृष्ठ-संख्या
१- भगवत्प्रेमकी प्राप्ति और वृद्धिके विविध साधन	.....	१
२- मानवताके पूर्ण आदर्श मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम	.....	२८
३- गीतामें भजन	.....	५७
४- गीता पढ़नेके लाभ	.....	७३
५- सुखोंके भेद और यथार्थ सुखकी महत्ता	.....	८६
६- परमानन्दस्वरूप निरतिशय असली सुखकी प्राप्तिके साधन	.....	१०२
७- ज्ञानकी सात भूमिकाएँ	.....	१२३
८- ज्ञान और भक्तिके साधनमें अहंता-ममताका अभाव	.....	१४१
९- समताका स्वरूप और महिमा	.....	१६०
१०- स्वेच्छा, परेच्छा और अनिच्छा	.....	१७९

भगवत्प्रेमकी प्राप्ति और वृद्धिके विविध साधन

श्रीरामचरितमानसमें बतलाया गया है—

सब कर मत खगनायक एहा। करिअ राम पद पंकज नेहा॥

(उत्तर० १२२।७)

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

एतावानेव लोकेऽस्मिन्पुंसः स्वार्थः परः स्मृतः।
एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत् सर्वत्र तदीक्षणम्॥

(७।७।५५)

'इस संसारमें मनुष्यका सबसे बड़ा असली स्वार्थ इतना ही माना गया है कि वह भगवान् गोविन्दमें अनन्य भक्ति—अनन्य प्रेम प्राप्त करे। उस प्रेमका स्वरूप है—सर्वदा सर्वत्र सब वस्तुओंमें भगवान्‌का दर्शन।'

उस अनन्य विशुद्ध प्रेमकी उत्पत्ति और वृद्धिके अनेक उपाय हैं, उनमेंसे कुछ उपाय यहाँ बतलाये जाते हैं—

१—भगवान्‌में प्रेम कैसे हो, भगवान्‌में प्रेम कैसे हो, भगवान्‌में प्रेम कैसे हो—इस प्रकारकी निरन्तर लगन, उत्कट इच्छाकी जागृति ही भगवान्‌में प्रेम होनेका मुख्य उपाय है। उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌से मिलनेकी उत्कट इच्छा होनेपर भगवान्‌में प्रेम बढ़कर अनन्य और विशुद्ध प्रेम हो जाता है, जिससे मनुष्यको भगवान् शीघ्र ही प्राप्त हो जाते हैं। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(४।११ का पूर्वार्द्ध)

'जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ।' तथा—

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(गीता ९। २९का उत्तरार्ध)

'जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।' इतना ही नहीं, अनन्यप्रेमी ज्ञानी निष्काम भक्तको तो भगवान्‌ने अपना अत्यन्त प्रिय बतलाया है। वे कहते हैं—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

(गीता ७। १७)

'उनमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेमभक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है; क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है।'

अतः हमलोगोंको भगवान्‌का अनन्य प्रेम प्राप्त करनेके लिये भगवान्‌से मिलनेकी उत्कट इच्छा करनी चाहिये। उत्कट इच्छासे अनन्य विशुद्ध प्रेम हो जाता है, जिससे भगवान् प्रकट हो जाते हैं। श्रीमद्भागवत दशम स्कन्धके ३२वें अध्यायमें बतलाया गया है कि भगवान् श्रीकृष्णके वियोगमें जब गोपियाँ अत्यन्त आतुर हो गयीं, तब भगवान् वहाँ प्रकट हो गये। श्रीरामचरितमानसमें देखिये—जब भगवान् श्रीरामके दर्शनके बिना भरतजी व्याकुल हो गये, तब भगवान् भी भरतसे मिलनेके लिये आतुर हो गये। भक्त विभीषणने घर चलनेके लिये विनय की, किंतु भगवान् लंकामें नहीं गये और अश्रुपूरित नेत्रोंसे युक्त हुए कहने लगे—

तोर कोस गृह मोर सब सत्य बचन सुनु भ्रात।
भरत दसा सुमिरत मोहि निमिष कल्प सम जात॥

बीतें अवधि जाउँ जौं जिअत न पावउँ बीर।
सुमिरत अनुज प्रीति प्रभु पुनि पुनि पुलक सरीर॥

(लङ्का ११६ क, ग)

तदनन्तर भगवान्‌ने तुरंत अपने आगमनकी सूचना हनुमान्‌के द्वारा भरतके पास पहुँचायी। उस समयकी भरतजीकी विरहावस्थाका वर्णन करते हुए श्रीगोस्वामीजीने कहा है—

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत॥
बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात॥

(उत्तर० १ क, ख)

फिर भगवान् श्रीराम स्वयं उनके पास आ गये।

जब मनुष्य भगवान्‌के विरहमें व्याकुल हो जाता है, भगवान्‌से मिलनेकी तीव्र उत्कट इच्छा उसके हृदयमें जाग्रत् हो जाती है, तब भगवान् उस भक्तके पास आये बिना नहीं रह सकते। अतः भगवान्‌के मिलनेमें तीव्र इच्छा ही प्रधान हेतु है। संसारके पदार्थ तो उनके मिलनेकी तीव्र इच्छा होनेपर भी, यदि प्रारब्ध न हो तो नहीं मिल सकते—जैसे कोई निर्धन है और धनी होनेकी इच्छा करता है तो इच्छामात्रसे धनी नहीं बन सकता। कोई रोगी शीघ्र नीरोग होना चाहता है, पर इच्छामात्रसे उसके रोगका नाश नहीं होता। मरणासन्न मनुष्य अधिक कालतक जीना चाहता है, पर वह इच्छामात्रसे जी नहीं सकता। इसी प्रकार मनुष्य संसारके किसी भी पदार्थकी इच्छा करे तो इच्छामात्रसे वह पदार्थ नहीं मिल सकता; क्योंकि संसारके सभी पदार्थ क्षणभङ्गुर, नाशवान् और जड हैं एवं प्रारब्धके अधीन हैं। इस कारण

वे इच्छा करनेमात्रसे नहीं मिल सकते। मनुष्य स्वयं अर्थ और अर्थ-आश्रित जड पदार्थोंको चाहता है, पर पदार्थ जड होनेके कारण मनुष्यको नहीं चाहते।

जब महाराज युधिष्ठिर पितामह भीष्मके साथ युद्ध करनेकी आज्ञा और आशीर्वाद प्राप्त करनेके लिये उनके पास गये, तब भीष्मजीने उनसे यही कहा—

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः॥

(महा॰ भीष्म॰ ४३।४१)

'महाराज युधिष्ठिर! पुरुष अर्थका दास है, पर अर्थ किसीका दास नहीं; यह सच्ची बात है। मैं कौरवोंके द्वारा अर्थसे बँधा हुआ हूँ।'

किंतु भगवान् तो चेतन, हेतुरहित दयालु और परम प्रेमी हैं; वे अपने प्रेमीके पुकारनेपर उससे मिले बिना कैसे रह सकते हैं।

२—दिव्य-गुणसम्पन्न सगुण भगवान्‌का मनसे आह्वान करके उनके साथ वार्तालाप करने एवं उनके दर्शन, स्पर्श, भाषण, चिन्तन आदिको रसमय, प्रेममय, आनन्दमय समझकर उनमें रमण करनेसे भगवान्‌में प्रेम हो जाता है। भगवान्‌का स्पर्श हाथोंके लिये, भगवान्‌की वाणी कानोंके लिये, उनकी दिव्य गन्ध नासिकाके लिये और उनका दर्शन नेत्रोंके लिये अमृतके समान परम मधुर और आनन्ददायक है—ऐसा समझकर भगवान्‌के अङ्गोंका अपने हाथोंसे स्पर्श करना हाथोंके द्वारा रमण है, उनकी अमृतमयी वाणी सुन-सुनकर मुग्ध हो जाना कानोंके द्वारा रमण है, उनकी दिव्य गन्धसे तृप्त होना नासिकाके द्वारा रमण है और नेत्रोंसे उनका दर्शन करके रूपमाधुरीका पान करना नेत्रोंके द्वारा रमण है। इसी प्रकार मन-बुद्धि-इन्द्रियोंके द्वारा भगवान्‌के

साथ सम्बन्ध करके तन्मय होनेसे भगवान्‌में प्रेम बढ़ता है। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें बतलाया है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥

(१०।९)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे तत्त्व, रहस्य और प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं।'

भक्तिमती गोपियाँ इसी प्रकार भगवान्‌में ही रमण करती हुई उनके प्रेममें मुग्ध हो जाया करती थीं—

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः॥

(श्रीमद्भा० १०।३०।४४)

गोपियोंका मन श्रीकृष्णमय हो गया था। उनकी वाणीसे श्रीकृष्णचर्चाके अतिरिक्त और कोई बात नहीं निकलती थी। उनके शरीरसे केवल श्रीकृष्णके लिये और केवल श्रीकृष्णविषयक चेष्टाएँ हो रही थीं। कहाँतक कहें, उनका आत्मा श्रीकृष्णमय हो रहा था। वे केवल श्रीकृष्णके गुणों और लीलाओंका ही गान कर रही थीं और उनमें इतनी तन्मय हो रही थीं कि उन्हें अपने शरीर और घरकी भी सुध-बुध नहीं रही।

३—केवल श्रद्धा-भाव-भक्तिपूर्वक भगवान्‌के ध्यानमें मस्त होनेसे भी भगवान्‌में प्रेम बढ़कर अनन्य और विशुद्ध प्रेम हो जाता है।

भक्त सुतीक्ष्णजी भगवान्‌के मिलनका मनोरथ करते हुए भगवान्‌के ध्यानमें मस्त हो गये थे, जिससे उनको अविरल प्रेमाभक्ति प्राप्त हो गयी। उनकी इस स्थितिका वर्णन गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने यों किया है—

प्रभु आगवनु श्रवन सुनि पावा। करत मनोरथ आतुर धावा॥
हे बिधि दीनबंधु रघुराया। मो से सठ पर करिहहिं दाया॥
सहित अनुज मोहि राम गोसाईं। मिलिहहिं निज सेवक की नाईं॥
मोरे जियँ भरोस दृढ़ नाहीं। भगति बिरति न ग्यान मन माहीं॥
नहिं सतसंग जोग जप जागा। नहिं दृढ़ चरन कमल अनुरागा॥
एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की॥
होइहैं सुफल आजु मम लोचन। देखि बदन पंकज भव मोचन॥
निर्भर प्रेम मगन मुनि ग्यानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी॥
दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा। को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा॥
कबहुँक फिरि पाछें पुनि जाई। कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई॥
अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई। प्रभु देखैं तरु ओट लुकाई॥
अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा। प्रगटे हृदयँ हरन भव भीरा॥
मुनि मग माझ अचल होइ बैसा। पुलक सरीर पनस फल जैसा॥
तब रघुनाथ निकट चलि आए। देखि दसा निज जन मन भाए॥
मुनिहि राम बहु भाँति जगावा। जाग न ध्यान जनित सुख पावा॥

(अरण्य० १०। २से ७½/२)

४—यदि भगवान्‌का ध्यान न हो सके तो केवल श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भगवन्नामका जप करनेसे भी भगवान्‌में प्रेम हो जाता है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें। आवत हृदयँ सनेह बिसेषें॥

(बाल० २१। ३)

नामकी महिमा बतलाते हुए वे और भी कहते हैं—

सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥
कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई॥

(बाल० २६। ३-४)

५—इसी प्रकार केवल कीर्तनसे भी भगवान्‌में अनन्य और विशुद्ध प्रेम हो जाता है, जिससे भगवान् प्रत्यक्ष दर्शन दे देते हैं। सुना जाता है जब श्रीचैतन्य महाप्रभु कीर्तन किया करते थे, तब वे प्रेममें इतने मग्न हो जाते थे कि पशु भी उनके कीर्तनको देख-सुनकर नाचने लग जाते तथा जब भक्त नरसी मेहता झाँझ-करताल आदि लेकर केदार रागमें भगवान्‌के गुण गाते थे, तब भगवान्‌के प्रेममें इतने मुग्ध हो जाते थे कि भगवान् उनके सम्मुख प्रकट हो जाते थे। एवं मीराँबाई जब अपने महलमें घुँघरू बाँधकर भगवद्गुणगान करती हुई नाचने लगतीं, तब उनके प्रेमसे भगवान् उनके सम्मुख प्रकट हो जाते और वे उनसे वार्तालाप किया करती थीं।

अतः कीर्तनसे भी भगवान्‌में प्रेमकी उत्पत्ति और वृद्धि हो जाती है। श्रीमद्भागवतमें बतलाया गया है—

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥

(११। २। ४०)

'जो श्रद्धालु मनुष्य इस प्रकार नियमपूर्वक आचरण करता है, उसके हृदयमें अपने प्रियतम प्रभुके नाम-कीर्तनसे भगवद्-अनुराग उत्पन्न हो जाता है, उसका चित्त द्रवित हो उठता है। वह साधारण लोगोंकी स्थितिसे ऊपर उठ जाता है और स्वभावसे ही मतवाला-सा होकर कभी खिलखिलाकर हँसता है तो कभी फूट-फूटकर रोने लगता

है। कभी ऊँचे स्वरसे भगवान्‌को पुकारता है तो कभी मधुर स्वरसे उनके गुणोंका गान करने लगता है और कभी-कभी भगवान्‌को अपने सम्मुख अनुभव करके उन्हें रिझानेके लिये नृत्य भी करने लगता है।'

६—भगवान्‌की लीलाओं और भक्तोंके चरित्रोंका एवं गीता, भागवत, रामायण आदि भक्तिभावपूर्ण शास्त्रोंका अर्थ और भाव समझते हुए अध्ययन करनेसे भी भगवान्‌में अनन्य प्रेम हो सकता है; क्योंकि भगवान्‌के और उनके भक्तोंके दिव्य गुण और अलौकिक प्रभावका अध्ययन करनेपर उनका तत्त्व-रहस्य समझमें आता है, जिससे श्रद्धा-विश्वासकी वृद्धि होकर भगवत्प्रेमकी प्राप्ति होती है।

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा है—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥

(गीता १८।७०)

'जो मनुष्य इस धर्ममय हम दोनोंके संवादरूप गीताशास्त्रको पढ़ेगा, उसके द्वारा भी मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित होऊँगा—ऐसा मेरा मत है।'

इस प्रकार भगवान्‌ने गीताशास्त्रका अध्ययन करनेवालेको भी अपना प्रेमी भक्त बतलाया है।

७—सत्पुरुषोंके सङ्गसे भी भगवान्‌में प्रेम होता है, सत्पुरुषोंसे भगवान्‌के गुण-प्रभाव-तत्त्व—रहस्यकी बातोंको सुननेपर मनुष्यका भगवान्‌में अतिशय अनुराग हो जाता है।

श्रीमद्भागवतमें श्रीशुकदेवजीने कहा है—

यस्तूत्तमश्लोकगुणानुवादः संगीयतेऽभीक्ष्णममङ्गलघ्नः।
तमेव नित्यं शृणुयादभीक्ष्णं कृष्णेऽमलां भक्तिमभीप्समानः॥

(१२।३।१५)

'सर्वोत्तम यशस्वी भगवान् श्रीकृष्णका गुणानुवाद समस्त अमङ्गलोंका नाश करनेवाला है, श्रद्धालु प्रेमी भक्तजन उसीका गान करते रहते हैं। जो भगवान् श्रीकृष्णमें अनन्य प्रेममयी विशुद्ध भक्तिकी लालसा रखता हो, उसे नित्य-निरन्तर भगवान्‌के दिव्य गुणानुवादका ही श्रवण करते रहना चाहिये।'

श्रीतुलसीदासजीने तो यहाँतक कह दिया है कि सत्सङ्गके बिना भगवत्प्रेमकी प्राप्ति ही नहीं होती—

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥

(उत्तर ६१)

इसीलिये कहा है—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

(सुन्दर ४)

८—भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धामके गुण-प्रभावको पढ़ने और सुनने-समझनेसे स्वाभाविक ही भगवान्‌में परम श्रद्धा और अनन्य प्रेम हो जाता है। जब किसी साधारण मनुष्य, देवता, तीर्थ आदिके गुण-प्रभावकी बात सुननेसे भी मनुष्यका उसमें स्वाभाविक ही श्रद्धा-प्रेम हो जाता है, तब सकल-गुण-निधान अपरिमित प्रभावशाली भगवान्‌के अनन्त दिव्य अलौकिक गुण-प्रभावको पढ़, सुन और समझकर उनमें प्रेम हो जाय—इसमें तो कहना ही क्या है।

भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धामके गुण-प्रभावको इस प्रकार समझना चाहिये—

जैसे बीजमें वृक्ष सूक्ष्मरूपसे रहता है, इसी प्रकार नाममें भगवान्‌के सब गुण भरे रहते हैं; क्योंकि जब मनुष्य श्रद्धापूर्वक

निष्कामभावसे भगवान्‌के नामका जप करता है, तब उसमें दैवी सम्पदाके लक्षण स्वतः ही आ जाते हैं—चाहे वह कैसा भी पापी क्यों न हो (गीता ९। ३०-३१)।

नाम-जपके प्रभावसे दुर्गुण-दुराचारोंका नाश होकर हृदयमें ज्ञान और प्रेमका प्रादुर्भाव हो जाता है, जिससे उसे भगवत्प्राप्ति हो जाती है।

श्रीतुलसीदासजीने बतलाया है—

अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ। भए मुकुत हरि नाम प्रभाऊ॥

(रामचरित॰ बाल॰ २६। ४)

राम नाम मनि दीप धरु जीह देहरीं द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजिआर॥

(बाल॰ २१)

किन्हीं अन्य कविने कहा है—

जबहिं नाम हिरदै धर्‌यो, भयौ पाप कौ नास।
मानो चिनगी आग की परी पुराने घास॥

यदि कहें कि 'बहुत-से मनुष्य नाम-जप तो करते हैं, किंतु उनमें उपर्युक्त महिमा देखनेमें नहीं आती' सो ठीक है। इसका कारण यह है कि उन्होंने नामके तत्त्व-रहस्यको नहीं समझा, इसीसे उन्होंने श्रद्धा-विश्वासपूर्वक निष्कामभावसे नाम-जप नहीं किया। अतः वे नामके तत्त्व-रहस्यको न समझनेके कारण ही उपर्युक्त महिमासे वञ्चित रहे।

भगवान्‌का स्वरूप अत्यन्त दिव्य, परम सुन्दर और महान् आकर्षक है। भगवान्‌के दिव्य गुणोंकी तो बात ही क्या है, सारे संसारके गुणोंको एकत्र किया जाय तो वे सब मिलकर भी उन गुणसागर भगवान्‌के गुणोंकी एक बूँदके समान भी शायद ही हों।

भगवान्‌का प्रभाव भी अपरिमित है। जिस प्रकार बिजलीके पंखेके द्वारा हवा प्राप्त होना, बल्बके द्वारा रोशनी होना, रेडियोके द्वारा

खबरें सुनायी देना, ट्रामगाड़ीका चलना आदि सब क्रियाएँ एक बिजलीके ही प्रभावका अंश है, उसी प्रकार संसारमें जो भी प्रभावयुक्त वस्तु देखनेमें आती है, वह सब भगवान्‌के ही प्रभावका अंश है।

गीतामें भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

(१०।४१)

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशका ही प्राकट्य जान।'

इस तत्त्वको स्पष्ट सुगमतापूर्वक समझनेके लिये केनोपनिषद्‌के यक्षोपाख्यानपर ध्यान देना चाहिये। एक समय भगवान्‌की शक्तिके प्रभावसे देवताओंने असुरोंपर विजय प्राप्त की; उसमें उन्होंने अपनी महिमा समझी, जिससे उन्हें अभिमान हो गया। भगवान् उनके अभिमानका नाश करनेके लिये उनके सामने यक्षरूपमें प्रकट हुए। यक्षका परिचय जाननेके लिये क्रमशः अग्नि और वायु गये। भगवान्‌ने उनके सामने एक तिनका रखा, किंतु वे दोनों ही उसे जला या उड़ा न सके। तब इन्द्र उनके पास गये। यक्ष अन्तर्धान हो गये। उस समय भगवती उमादेवी प्रकट हुईं और उन्होंने प्रकट होकर बताया कि 'यक्षरूपमें भगवान् प्रकट हुए थे। उनके प्रभावसे ही तुमलोगोंने असुरोंपर विजय प्राप्त की थी। किंतु उनकी विजयमें तुम अपनी महिमा मानने लगे। अतः तुमपर कृपा करके इस मिथ्याभिमानका नाश करनेके लिये ही वे यक्षके रूपमें प्रकट हुए थे।' (केनोपनिषद् खण्ड ३-४) अतएव समझना चाहिये कि संसारके समस्त प्राणिपदार्थोंमें जो प्रभाव देखनेमें आता है, वह भगवान्‌का ही प्रभाव है।

भगवान्‌की प्रत्येक लीलामें गुण-प्रभाव भरे रहते हैं। श्रीमद्भागवत,

दशम स्कन्धके १३वें अध्यायमें वर्णन आता है कि एक बार जिस समय यमुनातटपर वनमें ग्वाल-बालोंके साथ भगवान् श्रीकृष्ण भोजन कर रहे थे, उस समय ब्रह्माजी बछड़ों और ग्वाल-बालोंको लेकर चले गये और उनको गुफामें रख दिया। तब भगवान् स्वयं अनेकरूप होकर वैसे-के-वैसे बछड़े और ग्वाल-बालके रूपमें बन गये। इस प्रकार भगवान्ने बछड़ों और ग्वाल-बालोंके रूपमें गौओं और माताओंको वात्सल्य-सुख दिया और फिर ब्रह्माजीके अनुरोध करनेपर अपनी मायाका उपसंहार कर लिया। इस लीलामें भगवान्ने गोपबालकोंको सख्य-प्रेमका एवं गौओं और माताओंको वात्सल्यभावका सुख दिया तथा ब्रह्माजीके अपराधको क्षमा किया—ये सब भगवान्की लीलाके गुण हैं। वहाँ एक ही भगवान् अनेकरूप हो गये और इस रहस्यका किसीको पता नहीं लगा—यह उनका अपरिमित प्रभाव है।

इसी प्रकार भगवान्की प्रत्येक लीलामें गुण-प्रभावका तत्त्व-रहस्य समझना चाहिये।

भगवान्का परमधाम नित्य, चेतन और दिव्य, अनन्त, असीम गुणोंसे सम्पन्न है। जो साधक उस परमधाममें जाता है, वह उन गुणोंसे सम्पन्न हो जाता है। संसारमें जितने भी दैवीसम्पदाके गुण हैं, वे उस भगवद्धामके गुणोंका आभासमात्र हैं।

भगवान्के धामका प्रभाव तो अपरिमित है। जो वहाँ जाता है, वह परमानन्दमें निमग्न रहता है और पुनः कभी लौटकर संसारमें नहीं आता। यदि कभी भगवान्की आज्ञासे भगवान्के अधिकारको पाकर जीवोंके कल्याणके लिये आता है तो उसका आना आनेकी गणनामें नहीं है।

जो मनुष्य उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्के नाम, रूप, लीला, धामके

गुण-प्रभाव और तत्त्व-रहस्यको समझ जाता है, उसका भगवान्‌में अतिशय विशुद्ध प्रेम हो जाता है।

९—शरीर, संसार और सांसारिक पदार्थोंको मूल्यवान् न समझकर केवल एकमात्र दिव्यगुणसम्पन्न अपरिमित प्रभावशाली भगवान्‌को ही सर्वोत्तम और मूल्यवान् समझनेसे भगवान्‌में अनन्य प्रेम हो जाता है; क्योंकि संसारके सभी पदार्थ नाशवान् और क्षणभङ्गुर हैं एवं इन्द्रियजन्य सभी सांसारिक भोग-सुख परिणाममें दुःखदायी होनेके कारण दुःखरूप ही हैं। भगवान् कहते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५। २२)

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं, तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।'

मनुष्य भ्रमसे ही संसारके भोगोंको नित्य और सुखदायी मान लेता है, जिससे वह उनको मूल्यवान् समझकर उनमें फँस जाता है और उनका आदर करने लगता है। फलतः वह भगवान्‌के प्रेमसे वञ्चित रह जाता है। इसलिये उनको मूल्यवान् समझकर आदर देना ही मूर्खता है। यों समझ लेनेपर मनुष्यका संसारसे अत्यन्त वैराग्य होकर भगवान्‌में तीव्र अनुराग—अलौकिक प्रेम हो जाता है।

१०—मनुष्य संसारको ही सदा अपने सम्मुख देखता रहता है, अतः वह सांसारिक भोग-पदार्थोंकी चमक-दमकको देखकर उनमें फँस जाता है। इसलिये साधकको उचित है कि वह संसारकी ओर न

देखकर—संसारसे विमुख होकर भगवान्‌के चरित्र (लीला) को देख-देखकर मुग्ध होता रहे। उसे श्रीरामचरितमानसमें वर्णित भगवान् श्रीरामके आदर्श जीवन-चरित्रको मनसे देखना और उसके अनुसार अपना जीवन बनाना चाहिये। भगवान् श्रीरामने माता, पिता, भाई, बन्धु, मित्र, सेवक, पत्नी आदिके साथ जैसा उत्तम व्यवहार किया, उसका अनुकरण करनेसे भगवान्‌में प्रेम हो जाता है। एवं जैसे भगवान् श्रीकृष्णके वियोगमें गोपियोंने भगवान्‌की लीलाओंका अनुकरण किया था (भागवत्, स्कन्ध १०, अध्याय ३०, श्लोक २-३), उसी प्रकार भगवान्‌की लीलाओंका अनुकरण करनेसे भी भगवान्‌में प्रेम बढ़ जाता है।

११—भगवान्‌के संकेत और उनकी आज्ञाके अनुसार चलनेसे भी भगवान्‌में प्रेम हो जाता है। यह तो प्रसिद्ध नीति ही है कि जो कोई भी मनुष्य किसीके संकेत और आदेशके अनुसार चलता है तो वह उसे प्रिय लगता है। पतिपरायणा पत्नी पतिके संकेत और आज्ञाके अनुसार चलनेसे पतिकी परम प्रिय बन जाती है।

भगवान् श्रीराम प्रजाको उपदेश करते समय स्वयं कहते हैं—

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥

(उत्तर० ४३। ३)

१२—भगवान्‌का जो सिद्धान्त है, उसका स्वयं पालन करनेसे तथा लोगोंमें उसका प्रचार करनेसे एवं उनके मनके अनुकूल चलनेसे साधक भगवान्‌का अत्यन्त प्रिय हो जाता है। भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं अपने मतके अनुसार चलनेवालेकी प्रशंसा की है—

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥

(गीता ३। ३१)

'जो कोई मनुष्य मुझमें दोषदृष्टिसे रहित और श्रद्धायुक्त होकर मेरे इस मतका सदा अनुसरण करते हैं, वे भी सम्पूर्ण कर्मोंसे छूट जाते हैं।'

तथा भगवद्गीताके भावोंका प्रचार करनेवालेकी महिमामें तो भगवान्‌ने यहाँतक कह दिया है—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥

(गीता १८। ६८-६९)

'जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीता-शास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मुझको ही प्राप्त होगा—इसमें कोई संदेह नहीं है। उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है तथा पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्यमें होगा भी नहीं।'

१३—श्रद्धा और भक्तिपूर्वक भगवान्‌की पूजा करनेसे भी भगवान्‌में प्रेम होकर भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। इस विषयमें पद्मपुराणके उत्तरखण्डमें एक बड़ा सुन्दर आख्यान मिलता है। एक समयकी बात है, काञ्चीपुरीके महाराज चोलने अनन्तशयन नामक तीर्थमें जाकर भगवान् श्रीविष्णुके दिव्य विग्रहकी मणि, मुक्ता और स्वर्णके बने हुए फूलोंसे विधिपूर्वक पूजा की। उसी समय काञ्चीनगरीके ब्राह्मण विष्णुदास भी वहाँ आये और उन्होंने तुलसीमञ्जरी और पत्तोंसे भगवान्‌की विधिवत् पूजा की। इससे राजाकी की हुई पूजा तुलसी-पूजासे ढक गयी, यह देख राजा कुपित हो गये। दोनोंमें परस्पर वाद-विवाद हुआ। अन्तमें यह होड़ बदकर कि 'देखें, किसकी भक्ति

अधिक है; कौन भगवान्‌के दर्शन पहले पाता है' दोनों भगवान्‌की आराधनामें लग गये। वहाँ राजाने बड़े भारी वैष्णव-यज्ञका अनुष्ठान किया, जिसमें बहुत-सा अन्न खर्च किया गया और प्रचुर दक्षिणाएँ बाँटी गयीं। श्रीविष्णुदास भी वहीं व्रत, उपवास, जप और गुणगान-पूर्वक विधिवत् भगवान् विष्णुकी पूजा करने लगे। किंतु वे जब भोजन बनाकर भगवान्‌के नैवेद्यका समर्पण करते, तब कोई सारा भोजन पीछेसे अपहरण कर ले जाता। सायंकालकी पूजा न छूट जाय, इस विचारसे श्रीविष्णुदास दुबारा भोजन नहीं बनाते। सात दिनोंतक ऐसा होता रहा। अन्तमें श्रीविष्णुदास भोजन बनानेके बाद छिपकर देखने लगे तो वहाँ एक कृशकाय चाण्डालको भोजन ले जाते देखा। उसे देखते ही वे दयार्द्र हो गये और बोले—'भैया जरा ठहरो, क्यों रूखा-सूखा खाते हो। यह घी ले लो।' यह सुनकर चाण्डाल बड़े वेगसे भागा, जिससे वह भयसे मूर्च्छित हो गिर पड़ा। उस समय सर्वत्र श्रीविष्णुका दर्शन करनेवाले श्रीविष्णुदास करुणावश अपने वस्त्रसे उसको हवा करने लगे। तदनन्तर जब वह चाण्डाल उठकर खड़ा हुआ, तब श्रीविष्णुदासने देखा कि साक्षात् शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी भगवान् नारायण ही सामने खड़े हैं। वे भगवान्‌के प्रेममें मुग्ध हो गये। भगवान्‌ने उनको छातीसे लगा लिया और उन्हें अपने-जैसा रूप देकर परमधाम वैकुण्ठ ले चले। उस समय यज्ञमें दीक्षित राजा चोलने उनको विमानमें बैठकर जाते देखा तो उन्होंने अपने आचार्य महर्षि मुद्गलसे कहा, 'ये विष्णुदास तो मुझसे पहले ही परमधाम वैकुण्ठ जा रहे हैं। अतः जान पड़ता है, भगवान् विष्णु केवल दान और यज्ञोंसे प्रसन्न नहीं होते। उनका दर्शन करानेमें भक्ति ही प्रधान कारण है।' फिर वे भगवान् विष्णुको सम्बोधित करते हुए उच्चस्वरसे बोले—'भगवन्!

आप मुझे मन, वाणी, शरीर और क्रियाद्वारा स्थिर भक्ति दीजिये।' यों कहकर वे अग्निकुण्डमें कूद पड़े। तब भगवान् विष्णु वहाँ प्रकट हो गये और उन्हें छातीसे लगाया। फिर उनको अपने समान रूप देकर एक श्रेष्ठ विमानपर बिठाया और परमधाम वैकुण्ठमें ले गये।

इस प्रकार उन दोनों भक्तोंकी की हुई पूजासे भगवान् उनपर संतुष्ट हो गये।

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं कहा है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

(९।२६)

जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ।'

भगवान् श्रीरामके आगमनकी बात सुनकर शबरी भीलनीने भगवान्‌के सत्कारके लिये कन्द-मूल-फल एकत्र किये और उनके पधारनेपर उनको प्रेमपूर्वक खिलाया था। श्रीरामचरितमानसमें वर्णन आता है—

सादर जल लै चरन पखारे। पुनि सुंदर आसन बैठारे॥
कंद मूल फल सुरस अति दिए राम कहुँ आनि।
प्रेम सहित प्रभु खाए बारंबार बखानि॥

(अरण्य० ३४)

इसीसे उसे अतिशय भगवत्प्रेमकी प्राप्ति हो गयी, इसे भगवान्‌ने स्वयं स्वीकार किया है—

'सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें॥' (अरण्य० ३६।४)

एवं ग्राहसे ग्रस्त गजेन्द्रने जब भगवान्‌को पुष्प भेंट किया, तब भगवान् उसके प्रेमसे वहाँ आ गये और उसका संकटसे उद्धार किया।

श्रीमद्भागवतमें आया है—

उत्क्षिप्य साम्बुजकरं गिरमाह कृच्छ्रा-
न्नारायणाखिलगुरो भगवन्नमस्ते ॥
तं वीक्ष्य पीडितमजः सहसावतीर्य
सग्राहमाशु सरसः कृपयोज्जहार।

(८।३।३२-३३)

'गजेन्द्रने अपनी सूँड़में कमलका एक सुन्दर पुष्प लेकर ऊपर उठाया और बड़े कष्टसे कहा—'नारायण! जगद्गुरो! भगवन्! आपको नमस्कार है।' जब भगवान्‌ने गजेन्द्रको ग्राहसे अत्यन्त पीड़ित देखा, तब वे सहसा गरुड़को छोड़कर कूद पड़े और कृपा करके गजेन्द्रके साथ ही ग्राहको भी तुरंत सरोवरसे बाहर निकाल लाये एवं गजेन्द्रको ग्राहसे छुड़ा लिया।'

१४—भगवान्‌के पादसेवनरूप चरणामृतपान और चरणरज-सेवनके प्रभावसे भी भगवान्‌में प्रेम बढ़कर भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। वन जाते हुए भगवान् श्रीरामने जब केवटसे गङ्गापार उतारनेके लिये कहा, तब केवटने उत्तर दिया—'जबतक मैं आपके पैरोंको नहीं धो लूँगा, तबतक पार नहीं उतारूँगा।' केवटके प्रेमभरे वचनको सुनकर भगवान् बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने उसको पैर धोनेकी आज्ञा दे दी। तब केवट—

पद पखारि जलु पान करि आपु सहित परिवार।
पितर पारु करि प्रभुहि पुनि मुदित गयउ लेइ पार॥

(अयोध्या० १०१)

श्रीभरतजी महाराज भगवान्‌के चरणोंके सेवक थे। वे जब चित्रकूटमें भगवान्‌से मिलने गये, उस समय वहाँ जमीनमें भगवान्‌के चरणचिह्नोंको देखकर उस चरणरजको धारण करके प्रेममें इतने मग्न हो गये कि उनकी इस दशाको देखकर पशु, पक्षी और जड वृक्षादि जीव भी प्रेममें मग्न हो गये—

हरषहिं निरखि राम पद अंका। मानहुँ पारसु पायउ रंका॥
रज सिर धरि हियँ नयनन्हि लावहिं। रघुबर मिलन सरिस सुख पावहिं॥
देखि भरत गति अकथ अतीवा। प्रेम मगन मृग खग जड़ जीवा॥

(अयोध्या० २३८। २-३)

श्रीअक्रूरजी भी भगवान् श्रीकृष्णके चरण-चिह्नोंको देखकर प्रेममें विभोर हो गये थे। जब वे भगवान् श्रीकृष्णको लानेके लिये गोकुल गये, तब वहाँ—

पदानि तस्याखिललोकपालकिरीटजुष्टामलपादरेणोः।
ददर्श गोष्ठे क्षितिकौतुकानि विलक्षितान्यब्जयवाङ्कुशाद्यैः॥
तद्दर्शनाह्लादविवृद्धसम्भ्रमः प्रेम्णोर्ध्वरोमाश्रुकलाकुलेक्षणः।
रथादवस्कन्द्य स तेष्वचेष्टत प्रभोरमून्यङ्घ्रिरजांस्यहो इति॥

(श्रीमद्भा० १०। ३८। २५-२६)

'जिनके चरणोंकी परम पावन रजको सम्पूर्ण लोकपाल अपने मुकुटोंके द्वारा सेवन करते हैं, श्रीअक्रूरजीने गोष्ठमें उनके कमल, यव, अङ्कुश आदि अलौकिक रेखाओंसे युक्त चरण-चिह्नोंके दर्शन किये। उनसे पृथ्वीकी शोभा बढ़ रही थी। उन चरण-चिह्नोंके दर्शन करते ही अक्रूरजीके हृदयमें इतना आह्लाद हुआ कि वे अपनेको सँभाल न सके, विह्वल हो गये, प्रेमके आवेगसे उनका रोम-रोम खिल उठा, नेत्रोंसे आँसुओंकी झड़ी लग गयी। वे रथसे उतरकर उस धूलिमें लोटने लगे

और कहने लगे—'अहो ! यह हमारे प्रभुके चरणोंकी रज है।'

१५—भगवान्‌के शरण होनेसे भगवान्‌में प्रेम होकर भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। जो मनुष्य श्रद्धापूर्वक निरन्तर भगवान्‌का चिन्तन करता है, सर्वत्र भगवान्‌को देखता है, भगवान्‌की भक्ति करता है, भगवान्‌की आज्ञाका पालन करता है तथा भगवान्‌पर निर्भर हो जाता है, वह भगवान्‌का शरणागत भक्त भगवान्‌में परम प्रेम करके भगवान्‌को प्राप्त कर लेता है। गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

(९। ३४)

'मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे शरण हुआ तू मुझको ही प्राप्त होगा।'

जब भक्त विभीषणने भगवान् श्रीरामकी शरणमें जाकर कहा—

श्रवन सुजसु सुनि आयउँ प्रभु भंजन भव भीर।
त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर॥

(सुन्दर० ४५)

—तब भगवान्‌को विभीषणके ये दीन वचन बहुत ही अच्छे लगे और उन्होंने अपनी विशाल भुजाओंसे पकड़कर उनको हृदयसे लगा लिया—

दीन बचन सुनि प्रभु मन भावा। भुज बिसाल गहि हृदयँ लगावा॥

(सुन्दर० ४६। १)

इस प्रकार विभीषण शरणके प्रभावसे भगवान्‌के अनन्य प्रेमी बन गये।

भक्तवर अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णके शरण होकर उनसे प्रार्थना की—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥

(गीता २ । ७)

'कायरतारूप दोषसे उपहत हुए स्वभाववाला तथा धर्मके विषयमें मोहितचित्त हुआ मैं आपसे पूछता हूँ कि जो साधन निश्चित कल्याण-कारक हो, वह मेरे लिये कहिये; क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ, इसलिये आपके शरण हुए मुझको शिक्षा दीजिये ।'

भगवान्‌के शरण हो जानेसे अर्जुन भगवान्‌के अतिशय प्रिय हो गये, इसीसे भगवान्‌ने उनको अपने हृदयकी सर्वगुह्यतम बात भी बता दी ।

राजा बलिने अपने सर्वस्वको और अपने-आपको भगवान्‌के अर्पण करके भगवान्‌में परम प्रेम प्राप्त कर लिया (श्रीमद्भा० १० । २२) ।

१६—दासभावसे भी भगवान्‌में प्रेम होकर भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है । जैसे, श्रीहनुमान्‌जीका भगवान्‌के प्रति दासभाव था । वे भगवान् श्रीरामके चरणोंमें रहकर ही अपना जीवन बिताया करते थे । वे जब आरम्भमें भगवान्‌से मिले, तब उन्होंने भगवान्‌से अपने दैन्य-युक्त सेवाभावको स्पष्ट निवेदन कर दिया—

जदपि नाथ बहु अवगुन मोरें । सेवक प्रभुहि परै जनि भोरें ॥
नाथ जीव तव मायाँ मोहा । सो निस्तरइ तुम्हारेहिं छोहा ॥

ता पर मैं रघुबीर दोहाई। जानउँ नहिं कछु भजन उपाई॥
सेवक सुत पति मातु भरोसें। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसें॥

(किष्किन्धा० ३। १-२)

यों कहकर वे भगवान्‌के चरणोंमें गिर पड़े—

अस कहि परेउ चरन अकुलाई। निज तनु प्रगटि प्रीति उर छाई॥
तब रघुपति उठाइ उर लावा। निज लोचन जल सींचि जुड़ावा॥

(किष्किन्धा० ३। ३)

फिर भगवान्‌ने कहा—

सुनु कपि जियँ मानसि जनि ऊना। तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना॥
समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ॥

(किष्किन्धा० ३। ४)

श्रीकाकभुशुण्डिजीने तो गरुड़जीसे यहाँतक कह दिया—

सेवक सेब्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धांत बिचारि॥

(उत्तर० ११९ क)

१७—सखाभावसे भी भगवान्‌के परम प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है। जिस प्रकार अर्जुन, उद्धव, गोपबालक और गोपियाँ आदिका भगवान् श्रीकृष्णके प्रति सखाभाव था एवं सुग्रीव आदिका भगवान् श्रीरामके प्रति सखाभाव था, वैसे सखाभावसे भी मनुष्यका भगवान्‌में अनन्य प्रेम हो जाता है।

१८—हमें जो प्रिय लगता हो, उसे हम भगवान्‌पर सजायें और भगवान्‌को जो प्रिय लगता हो, उसे हम स्वयं धारण करें तो यों करनेसे भी हमारा भगवान्‌में विशेष प्रेम हो सकता है।

संसारके जो-जो पदार्थ हमें प्रिय लगते हैं, जिनके कारण हमारा

मन संसारकी ओर जाता है, उन सब पदार्थोंको हमें अलौकिक और दिव्य रूपमें भगवान्‌से सम्बन्धित कर देना चाहिये। भाव यह कि संसारमें जितने भी सुन्दर-सुन्दर बढ़िया वस्त्र हैं, उनसे भी बढ़कर अलौकिक सुन्दर वस्त्र पीताम्बर आदिके रूपमें भगवान्‌पर देखने चाहिये। जितने भी बहुमूल्य रत्न आदि पदार्थ हैं, उनसे बढ़कर दिव्य और अलौकिक रत्नोंको भगवान्‌के आभूषणोंमें देखना चाहिये। पत्र, पुष्प, पुष्पमाला आदि जितने सुगन्धित पदार्थ हैं, उनको भगवान्‌की पूजाकी सामग्रीमें देखना चाहिये। दिव्य और अलौकिक फल, मेवा, मिष्टान्न आदि पदार्थोंको भगवान्‌के नैवेद्यकी सामग्रीमें देखना चाहिये। इसी प्रकार अपने रुचिकर अन्यान्य सभी पदार्थोंको भगवान्‌से सम्बन्धित करके देखना चाहिये, जिससे मन भगवान्‌को छोड़कर अन्यत्र कहीं न जाय। यों श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवान्‌को प्रेमास्पद और अपनेको प्रेमी मानकर अपने-आपको उनके चरणोंमें समर्पित कर देना चाहिये। इस प्रकार करनेसे भगवान्‌में अनन्य विशुद्ध प्रेम उत्पन्न होकर भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है।

भगवान्‌को कौन-से गुण और आचरण प्रिय हैं, इसे भगवान्‌ने स्वयं गीताके बारहवें अध्यायके १३वेंसे १९वेंतक ७ श्लोकोंमें बतला दिया है। वे कहते हैं कि जो मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियोंमें द्वेषभावसे रहित, स्वार्थरहित सबका प्रेमी, हेतुरहित दयालु, ममतारहित, अहंकाररहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है; जो निरन्तर संतुष्ट, मन-इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए, दृढ़निश्चयी और मनबुद्धिको मुझमें अर्पण किये रहता है; जिससे कोई भी जीव उद्‌वेगको प्राप्त नहीं होता, जो स्वयं भी किसी जीवसे उद्‌वेगको प्राप्त नहीं होता; जो हर्ष, अमर्ष, भय, उद्‌वेग आदि विकारोंसे रहित है;

जो आकाङ्क्षारहित, बाहर-भीतरसे शुद्ध, चतुर, पक्षपातशून्य व्यथारहित और सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तृत्वाभिमानसे रहित है; जो प्रिय वस्तुको पाकर न कभी हर्षित होता है और न अप्रियको पाकर द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है; जो शुभाशुभ सम्पूर्ण कर्मोंका त्यागी है; जो शत्रु-मित्र, मान-अपमान, सरदी-गरमी, सुख-दुःख और निन्दा-स्तुतिमें सम है; जो स्त्री, पुत्र, धन आदि सांसारिक पदार्थोंमें आसक्तिसे रहित है तथा देह और घरमें ममता और अभिमानसे रहित है, ऐसा स्थिरबुद्धि भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है।

जो भगवान्‌के मनके अनुकूल इन गुणों और आचरणोंको अपने अनुष्ठानमें लाता है, वह भगवान्‌का अतिशय परम प्रिय हो जाता है।

भगवान्‌ने कहा है—

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥

(गीता १२। २०)

'जो श्रद्धायुक्त पुरुष मेरे परायण होकर इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृतको निष्काम प्रेमभावसे सेवन करते हैं, वे भक्त तो मुझको अतिशय प्रिय हैं।'

इसी प्रकार उत्तम गुण और आचरणोंको धारण करनेसे भी भगवान्‌में प्रेम होकर भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है—इसको समझनेके लिये यहाँ एक दृष्टान्त बतलाया जाता है। मान लीजिये, एक जवान कुमारी कन्याके माता-पिताने उसकी सगाई (सम्बन्ध)के लिये किन्हीं ब्राह्मणसे अनुरोध किया कि आप इसका सम्बन्ध किसी अच्छे कुलीन घरके वरके साथ करा दें। ब्राह्मणने सम्बन्ध करा दिया। तब वरकी ओरसे उस ब्राह्मणके हाथों साड़ी, ओढ़ना, पहननेका कब्जा और

हाथ, पैर, गले, वक्षःस्थल और कानपर धारण करनेके आभूषण, चूड़ामणि तथा हाथोंकी चूड़ियाँ आदि कन्याके लिये भिजवायी गयीं। वह कन्या उन सबको धारण करके बहुत प्रसन्न हुई। जब उसकी सहेलियाँ वस्त्र-आभूषणोंकी प्रशंसा करके यह कहतीं कि क्या ये वस्तुएँ तुम्हारे पतिने भेजी हैं, तब यह सुनकर वह लज्जित हो जाती। वह उन वस्त्राभूषणोंका आदर करती और उन्हें सुरक्षित रखती। यह सूचना जब उसके वरको प्राप्त होती, तब वह प्रसन्न होता। अन्तमें वह कन्याके इस बर्तावपर मुग्ध होकर बड़े उत्साहसे विवाहका समय निश्चित करके आया। कन्या वरका दर्शन पाकर अत्यन्त प्रसन्न हुई। फिर वह वर उस कन्याके साथ विवाह करके उसे अपने घर ले गया। ससुराल जानेपर कन्याके माता-पिताने फिर उसे अपने यहाँ आनेका आग्रह किया; उनके विशेष आग्रह करनेपर उसके पतिने थोड़े समयके लिये भेज दिया,फिर वापस बुला लिया।

इस दृष्टान्तको हमें अध्यात्म-विषयमें यों घटाना चाहिये—यहाँ शिक्षा देनेवाले गुरुजन ही माता-पिता हैं। साधक मनुष्य कन्या है। भगवत्प्राप्त पुरुष ही सम्बन्ध करानेवाले ब्राह्मण हैं। माधुर्य, दास्य, सख्य आदि सम्बन्ध स्थापन करना ही सगाई है। लोकमर्यादाकी रक्षा अधोवस्त्र (साड़ी) है, शास्त्रमर्यादाकी रक्षा ही उत्तरीयवस्त्र (ओढ़ना) है; शीत-उष्ण, सुख-दुःखको सहना (तितिक्षा) ही पहननेका कब्जा है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह—ये पाँच 'यम' ही दाहिने हाथकी चूड़ियाँ हैं। शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान—ये पाँच 'नियम' ही बायें हाथकी चूड़ियाँ हैं। पैरोंसे सत्सङ्ग, तीर्थ, देवदर्शन आदिके लिये यात्रा करना ही पैरोंके आभूषण हैं। यज्ञ, दान, सेवा-शुश्रूषा, पूजा, परोपकार करना ही हाथोंके आभूषण हैं। गीता,

रामायण, भागवत आदि भक्तिभावपूर्ण ग्रन्थोंको अर्थ और भावसहित कण्ठस्थ करना ही कण्ठका आभूषण है; क्षमा, दया, समता, शान्ति, सरलता, निष्कामता, ज्ञान, वैराग्य, प्रेम आदि हृदयके उत्तम भाव ही वक्षःस्थलपर धारण किये जानेवाले चन्द्रहार, रत्नोंकी माला आदि आभूषण हैं। भगवान्‌के दिव्य नाम-गुण-सौन्दर्य-माधुर्य-लीला-चरितादिकी और अपनी अपकीर्ति, निन्दा, दुर्वचन और अवगुणोंकी बात सुनकर प्रसन्न होना ही कानोंके आभूषण हैं। विनयपूर्वक भगवद्भावसे सबके चरणोंमें नमस्कार करना ही सिरका आभूषण-चूड़ामणि है। लोगोंसे अपने गुणों और आचरणोंकी प्रशंसा सुनकर लज्जित होना ही सहेलियोंके द्वारा वस्त्राभूषणोंकी प्रशंसा सुनकर लज्जित होना है। सद्गुण, सत्-आचरण और भक्तिको प्रसन्नता और उत्साहपूर्वक सदा धारण किये रहना ही वस्त्राभूषणोंका आदर करना और उन्हें सुरक्षित रखना है। उत्तम गुण-आचरणोंको देखकर भगवान्‌की प्रसन्नता और प्रेमकी प्राप्ति होना ही पतिकी प्रसन्नता और प्रेमकी प्राप्ति है। साधकको भगवान्‌का प्रत्यक्ष आकर दर्शन देना ही पतिका आकर विवाह करना है। भगवान्‌का परमधाम ही ससुराल है। भगवान्‌की आज्ञासे भगवान्‌का अधिकार पाकर भक्तका संसारके उद्धारके लिये संसारमें आकर भक्तिका प्रचार करना ही नैहर (पीहर) में आना है। पुनः भगवान्‌के परमधाममें जाना ही ससुरालमें जाकर निवास करना है।

इस दृष्टान्तसे यह शिक्षा मिलती है कि हमें भगवान्‌का प्रिय बननेके लिये उपर्युक्त सद्गुण, सदाचार और ईश्वरकी भक्तिको आदर-सत्कारपूर्वक धारण करना चाहिये। इनको धारण करनेसे भगवान्‌में परम प्रेम होकर हमें भगवत्प्राप्ति हो सकती है।

ऊपर विशुद्ध अनन्य प्रेमकी उत्पत्ति और वृद्धिके लिये बहुत-से

उपाय बताये गये हैं। इनमेंसे किसी एकको भी मनुष्य धारण कर ले तो उससे प्रेमकी उत्पत्ति और वृद्धि हो जाती है। फिर उसकी दशा विचित्र हो जाती है।

श्रीसुन्दरदासजीने कहा है—

प्रेम लग्यौ परमेस्वर सों तब भूलि गयौ सिगरौ घरबारा।
ज्यौं उन्मत्त फिरै जित ही तित, नैक रही न सरीर सँभारा॥
स्वास उसास उठै सब रोम,चलै दृग नीर अखंडित धारा।
सुंदर कौन करै नवधा बिधि, छाकि पर्‌यो रस पी मतवारा॥

ऐसे प्रेमीको भगवान्‌का प्रत्यक्ष दर्शन शीघ्र हो जाता है। जिसे भगवान्‌का साक्षात् दर्शन हो जाता है, वह प्रेम और आनन्दमें ऐसा मुग्ध हो जाता है कि फिर उसे एक भगवान्‌के सिवा अन्य किसीकी तो बात ही क्या, अपना ज्ञान भी नहीं रहता।

ऐसा प्रेमी भक्त दास्य-वात्सल्यादि समस्त भावोंसे ऊपर उठ जाता है। वहाँ केवल एक विशुद्ध प्रेम ही रहता है। उस भक्तकी सारी चेष्टाएँ भगवान्‌को आह्लादित करनेके लिये ही होती हैं। सारे संसारको आह्लादित करते हैं भगवान् और भगवान्‌को आह्लादित करता है वह प्रेमी भक्त। जैसे प्रेममयी श्रीराधिकाजी, जो भगवान्‌की आह्लादिनी शक्ति हैं, भगवान् श्रीकृष्णको आह्लादित करती रहती हैं, वैसे ही वह भक्त भगवान्‌को आह्लादित करता रहता है। उस समय भगवान्‌की भी सारी चेष्टाएँ भक्तको आह्लादित करनेके लिये हुआ करती हैं। यह दिव्य अलौकिक विशुद्ध अनन्य प्रेमका स्वरूप है। इसमें प्रेम, प्रेमास्पद और प्रेमी एकरूप ही हो जाते हैं। यह है दिव्यगुणसम्पन्न सगुण भगवान्‌के स्वरूपकी प्राप्ति।

मानवताके पूर्ण आदर्श मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामने मनुष्यके रूपमें प्रकट होकर मनुष्यको क्या करना चाहिये, इसके लिये अपना बहुत ही सुन्दर आदर्श उपस्थित किया है। भगवान् श्रीरामके चरित्र, गुण और उपदेश अक्षरशः काममें लाने योग्य हैं। श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करते हैं और वे जिस-जिस बातको प्रमाणित कर देते हैं, उसके अनुसार ही सब लोग चलते हैं* —इस बातको भगवान् श्रीरामने अपने अवतारकालके जीवनमें चरितार्थ करके दिखा दिया। भगवान् श्रीरामके स्वरूप, गुण, प्रभाव और आचरणोंका वर्णन करते हुए महर्षि मार्कण्डेयजीने महाराज युधिष्ठिरसे कहा है—भगवान् श्रीराम समस्त धर्मोंके पारंगत विद्वान् और बृहस्पतिके समान बुद्धिमान् थे। सम्पूर्ण प्रजाका उनमें अनुराग था। वे सभी विद्याओंमें प्रवीण और जितेन्द्रिय थे। उनका अद्भुत रूप देखकर शत्रुओंके भी नेत्र और मन लुभा जाते थे। वे दुष्टोंका दमन करनेमें समर्थ, धर्मात्मा पुरुषोंके संरक्षक, धैर्यवान्, दुर्धर्ष, विजयी तथा किसीसे भी परास्त न होनेवाले थे।†

---

* यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
(महा० भीष्म० २७। २१)

† पारगं सर्वधर्माणां बृहस्पतिसमं मतौ॥
सर्वानुरक्तप्रकृतिं सर्वविद्याविशारदम्।
जितेन्द्रियममित्राणामपि दृष्टिमनोहरम्॥
नियन्तारमसाधूनां गोप्तारं धर्मचारिणाम्।
धृतिमन्तमनाधृष्यं जेतारमपराजितम्॥
(महा० वन० २७७। १०—१२)

भगवान् श्रीराम माता-पिता-गुरुजनोंके सेवक, शरणागतरक्षक एवं दया, प्रेम, क्षमा, समता, संतोष, शान्ति आदि अनेक गुणोंसे परिपूर्ण थे। उनका चरित्र बड़ा ही अद्भुत और अलौकिक है, जिसका वर्णन विस्तारसे वाल्मीकीय रामायण, अध्यात्मरामायण और तुलसीकृत मानस आदिमें भरा हुआ है। संक्षेपमें श्रीपद्मपुराण, पातालखण्डके पहलेसे ६९वें अध्यायतक और महाभारत वनपर्वके २७७ वेंसे २९१ वें अध्यायतकमें भी श्रीरामचरित्रका बहुत ही सुन्दर वर्णन है। इन ग्रन्थोंमें भगवान् श्रीरामके चरित्रके विषयमें कई कथाभेद भी प्राप्त हैं; किन्तु इसके लिये विद्वान् लोग यह कहा करते हैं कि ये सभी बातें ठीक हैं। बहुत-से त्रेतायुग हो चुके हैं, उनमें बहुत बार भगवान् श्रीरामके अवतार हो चुके हैं। इस कारण तथा कल्पभेदके कारण भी चरित्रोंमें कुछ भिन्नताएँ मिलती हैं। हमलोगोंको सभी चरित्रोंको ऐतिहासिक यथार्थ घटनाएँ समझकर उनका अनुकरण करना चाहिये।

भगवान् श्रीरामके गुण और आचरण परम आदर्श हैं। उनके प्रत्येक आचरणमें नीति और धर्ममय शिक्षा भरी हुई है। हमें उनपर ध्यान देकर उनको अपने आचरणमें लाना चाहिये।

भगवान् श्रीरामका अपने भाइयोंके साथ बहुत ही प्रेमपूर्ण भ्रातृत्वका व्यवहार था। विशेषकर श्रीभरतके प्रति तो भगवान्‌का बहुत ही उत्तम प्रेमका बर्ताव था। श्रीभरद्वाजजीने भरतसे कहा है—

सुनहु भरत रघुबर मन माहीं। पेम पात्रु तुम्ह सम कोउ नाहीं॥
लखन राम सीतहि अति प्रीती। निसि सब तुम्हहि सराहत बीती॥
तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरें देह जनु राम सनेहू॥

(रा० च० मा० अयोध्या० २०८। २,४)

श्रीलक्ष्मणके साथ भी भगवान्‌का बहुत ही नीतियुक्त और प्रेमपूर्ण व्यवहार था। श्रीलक्ष्मणने जब यह सुना कि भगवान् रामको वनवास दिया जा रहा है, तब वे बड़े ही रोषमें भर गये और श्रीरामसे बोले—'रघुनन्दन! आप मेरी सहायतासे राज्यको अपने अधिकारमें कर लें। जब मैं धनुष लिये आपके पास रहकर आपकी रक्षा करूँगा, तब उस समय ऐसा कौन है जो आपसे बढ़कर पौरुष दिखानेका साहस कर सके। यदि नगरके लोग विरोधमें खड़े होंगे तो मैं अपने तीखे बाणोंसे सारी अयोध्याको मनुष्योंसे सूनी कर दूँगा। जो-जो भरतका पक्ष लेंगे, उन सबको मैं मार डालूँगा। राजा किस बलपर आपको न्यायतः प्राप्त यह राज्य कैकेयीको देना चाहते हैं? यदि पिताजी कैकेयीके प्रोत्साहन देनेपर उसपर संतुष्ट हो हमारे साथ ऐसा शत्रुका-सा बर्ताव करें तथा यदि गुरु भी अभिमानमें आकर कार्य-अकार्यका विचार न करके कुमार्गपर चलें तो उन्हें भी दण्ड देना चाहिये।'

इतना ही नहीं, आगे वे और भी कहते हैं—'आप जो राज्याभिषेक न होनेमें दैवकी प्रेरणा मानते हैं, यह मुझे अच्छा नहीं लगता। दैवका आश्रय तो वही लेता है, जो कायर होता है। समर्थ पुरुष दैवका आश्रय नहीं लेते। आज संसारके लोग देखेंगे कि दैवकी शक्ति बड़ी है या पुरुषका पुरुषार्थ। लोग आज मेरे पुरुषार्थसे दैवको परास्त होता देखेंगे। तीनों लोकोंके प्राणी मिलकर भी आज आपके राज्याभिषेकको नहीं रोक सकते, फिर पिताजीकी तो बात ही क्या है। आप अपना राज्याभिषेक होने दीजिये। मैं अकेला ही समस्त विरोधी राजाओंका बलपूर्वक निवारण करनेमें समर्थ हूँ। मेरी ये भुजाएँ शोभाके लिये नहीं हैं, यह धनुष आभूषणके लिये नहीं है, यह तलवार केवल बँधी रहनेके लिये नहीं है और ये बाण खंभे बनानेके लिये नहीं हैं।

ये सब शत्रुओंका दमन करनेके लिये ही हैं। जिस किसी उपायसे यह सारी पृथ्वी आपके अधिकारमें आ जाय, उसके लिये मुझे आज्ञा दीजिये।'

श्रीलक्ष्मणजीके वीरताभरे वचन सुनकर भगवान् श्रीरामने उन्हें प्रेमसे समझाते हुए कहा— 'लक्ष्मण ! मैं जानता हूँ, तुम सदा ही मुझमें भक्ति रखते हो। तुम्हारा पराक्रम भी मुझे अज्ञात नहीं है; किंतु मनुष्यको ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये, जिससे केवल अर्थ और कामकी ही सिद्धि हो, धर्म और मोक्षका समावेश न हो। जिससे धर्मकी सिद्धि हो, वही कार्य करना उचित है। महाराज हमलोगोंके गुरु, राजा और पिता होनेके साथ ही वृद्ध भी हैं। अतः वे क्रोधसे, हर्षसे अथवा कामनावश भी यदि किसी बातके लिये आज्ञा दें तो धर्म समझकर उसका पालन करना चाहिये। इसलिये मैं पिताकी इस प्रतिज्ञाका यथावत् पालन करनेसे मुँह नहीं मोड़ सकता। मुझे तो तुम माता-पिताकी आज्ञामें ही स्थित समझो। यही सत्पुरुषोंका मार्ग है।' इस प्रकार भगवान् श्रीरामने बड़े ही प्रेम और शान्तिपूर्ण ढंगसे उन्हें समझाया। तब श्रीलक्ष्मणने सोचा कि इनकी इच्छा वन जानेकी ही है, अतः उन्होंने साथ चलनेका आग्रह किया और अनुनय-विनय करके साथ चले गये। (वा० रा० अयोध्या० सर्ग २१ से २३)

श्रीशत्रुघ्नके साथ भी भगवान् श्रीरामका बहुत ही प्रेमका बर्ताव रहा। जब श्रीभरत भगवान् श्रीरामको वनसे लौटा लानेके लिये गये, तब श्रीशत्रुघ्न भी उनके साथ गये। श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—

शत्रुघ्नश्चापि रामस्य ववन्दे चरणौ रुदन्।
तावुभौ च समालिङ्ग्य रामोऽप्यश्रूण्यवर्तयत्॥

(वा० रा० अयोध्या० ९९।४०)

'श्रीभरतके साथ श्रीशत्रुघ्न भी रोते हुए गये और उन्होंने श्रीरामके चरणोंमें प्रणाम किया। भगवान् श्रीराम उन दोनों भाइयोंको छातीसे लगाकर रोने लगे।'

जब पादुका देकर भगवान् श्रीराम श्रीभरतको लौटा रहे हैं, उस समय श्रीशत्रुघ्नके मनमें माता कैकेयीके प्रति कुछ रोषका भाव जानकर वात्सल्यके कारण श्रीशत्रुघ्नको शिक्षा देते हुए कहते हैं—

मातरं रक्ष कैकेयीं मा रोषं कुरु तां प्रति॥
मया च सीतया चैव शप्तोऽसि रघुनन्दन।

(वा० रा० अयोध्या० ११२। २७-२८)

'रघुनन्दन शत्रुघ्न! तुम्हें मेरी और सीताकी शपथ है, तुम माता कैकेयीके प्रति कुछ भी क्रोध न करके उनकी रक्षा करते रहना।' इतना कहते-कहते भगवान्‌की आँखें प्रेमाश्रुओंसे भर गयीं। इससे पता लगता है कि श्रीरामका श्रीशत्रुघ्नके प्रति भी कितना प्रेम था।

जब परम धाम जानेका समय आया, तब पता लगते ही श्रीशत्रुघ्न अपने पुत्रोंको मधुपुरी (मथुरा) का राज्य सौंप कर दौड़े हुए श्रीरामके पास आये और उनके चरणोंमें प्रणाम करके कहने लगे—'रघुनन्दन! मैं दोनों पुत्रोंको राज्य सौंपकर आपके साथ जानेका निश्चय करके आया हूँ। अतः आप कृपा करके मुझे न तो दूसरी बात कहें और न दूसरी आज्ञा ही दें; क्योंकि विशेषकर मुझ-जैसे पुरुषद्वारा आपकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं होना चाहिये।'

इसपर भगवान् श्रीरामने उनके संतोषके लिये उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। (वा० रा० उत्तर० १०८। ७—१६)

भगवान् श्रीराम बाल्यावस्थासे ही अपने तीनों भाइयोंके साथ

अत्यधिक प्रेम करते थे। सदा उनकी रक्षा करते और उन्हें प्रसन्न रखनेकी चेष्टा करते थे। खेल-कूदमें भी कभी उनको दुःखी नहीं होने देते थे—यहाँतक कि अपनी जीतमें भी उन्हें प्रसन्न करनेके लिये हार मान लेते थे और प्रेमसे पुचकार-पुचकारकर दाँव दिया करते थे। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

खेलत संग अनुज बालक नित जोगवत अनट अपाउ।
जीति हारि चुचुकारि दुलारत देत दिवावत दाउ॥

(विनय० १००)

श्रीभरतने तो स्वयं इसे स्वीकार किया है—

मैं प्रभु कृपा रीति जियँ जोही। हारेहुँ खेल जितावहिं मोही॥

(रा० च० मा० अयोध्या० २६०।४)

जब भगवान् श्रीरामने अपने राज्याभिषेककी बात सुनी, तब उन्हें प्रसन्नताके स्थानमें पश्चात्ताप हुआ और वे कहने लगे—

जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई॥
करनबेध उपबीत बिआहा। संग संग सब भए उछाहा॥
बिमल बंस यहु अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥

(रा० च० मा० अयोध्या० १०।३-४)

भगवान् श्रीरामको भाइयोंको छोड़कर अपना राज्याभिषेक भी पसंद नहीं आया। कैसा अनूठा भातृ-प्रेम है!

भगवान् श्रीरामकी वीरता और पराक्रम भी अद्भुत और अलौकिक थे। उन्होंने ताड़का, सुबाहु, विराध, खर, दूषण, त्रिशिरा और रावण आदि राक्षसोंका विनाश करनेमें बड़ा ही पराक्रम दिखाया था। इसके सिवा, जब वे विवाह करके मिथिलापुरीसे अयोध्या लौट रहे थे, तब मार्गमें श्रीपरशुरामजी फरसा और भयंकर धनुष-बाण लिये आये और

उनसे बोले—'राम ! सुना जाता है, तुम्हारा पराक्रम अद्भुत है। तुमने जो धनुष तोड़ा है वह तुम्हारा कार्य भी अद्भुत और अचिन्त्य है। मैं एक दूसरा विशाल और भयंकर धनुष लाया हूँ। यदि तुम इसके ऊपर बाण चढ़ाओ तो मैं तुम्हारा पराक्रम समझूँ। तुम्हारा बल समझकर फिर मैं तुमसे द्वन्द्व-युद्ध करूँगा।' भगवान् श्रीराम पिता श्रीदशरथजीके गौरवका विचार करके संकोचवश कुछ बोल नहीं रहे थे, किंतु परशुरामजीकी ललकार सुनकर मौन न रह सके। उन्होंने कहा—'भृगुनन्दन ! मैं क्षत्रियधर्मसे युक्त हूँ, तो भी आप मुझे पराक्रमहीन और असमर्थ मानकर मेरे तेजका तिरस्कार कर रहे हैं। अब मेरा पराक्रम देखिये।' यों कहकर उन्होंने परशुरामजीके हाथसे वैष्णव धनुष ले लिया और तुरंत उसपर बाणका संधान कर दिया। उस बाणसे परशुरामजीके तपोबलसे प्राप्त हुए पुण्यलोक नष्ट हो गये। यह दृश्य अपनी आँखों देखकर परशुरामजी महेन्द्रपर्वतपर चले गये।

(वा० रा० बाल० सर्ग ७४ से ७६)

वन-गमनके समय माता कैकेयीने श्रीरामसे सारी घटनाका विवरण बतलाते हुए कहा—'राजा इस धर्मसंकटमें पड़ गये हैं कि एक ओर तो उनका तुम्हारे प्रति स्नेह है और दूसरी ओर अपनी की हुई प्रतिज्ञा है। अतः यदि तुम कर सको तो राजाकी आज्ञा शिरोधार्य करके इनको इस कठिन क्लेशसे बचाओ।' इसका भगवान् श्रीराम कितनी सरलतासे उत्तर देते हैं—'इसमें तो मेरा सब प्रकारसे हित-ही-हित भरा है। वनमें जानेके लिये पिताजीकी आज्ञा और आपकी सम्मति है तथा वनमें जानेसे मुनियोंके दर्शन और प्राणप्यारे भाई भरतको राज्यकी प्राप्ति हो, ऐसे अवसरपर भी मैं वनमें न जाऊँ तो मैं मूर्खोंमें सबसे बढ़कर पहली श्रेणीका मूर्ख समझा जाऊँगा।' श्रीरामचरितमानसमें भगवान्‌के वचन हैं—

मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर॥
भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥
जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिअ मोहि मूढ़ समाजा॥

(रा० च० मा० अयोध्या० ४१, ४२। १)

यहाँ श्रीरामका कितना उच्चकोटिका स्वार्थत्यागपूर्ण सेवा, प्रेम और विनययुक्त आदर्श व्यवहार है। इतना ही नहीं, उन्होंने यहाँतक कह दिया—

अहं हि वचनाद् राज्ञः पतेयमपि पावके॥
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे।

(वा० रा० अयोध्या० १८। २८-२९)

'मैं महाराज पिताजीकी आज्ञासे तो आगमें भी प्रवेश कर सकता हूँ, तीक्ष्ण विष भी खा सकता हूँ और समुद्रमें भी कूद सकता हूँ।'

पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये श्रीरामके मनमें कितना उत्साह, साहस और दृढ़ता है!

यद्यपि महाराज दशरथजीने वन-गमनके लिये अपने मुखसे श्रीरामको कुछ नहीं कहा था; फिर भी वे रानी कैकेयीके माँगनेपर वरदानमें श्रीभरतको राजगद्दी और श्रीरामको चौदह वर्षका वनवास देना स्वीकार कर चुके थे। इसी कारण भगवान् श्रीराम माता कैकेयीकी बात मानकर, माता कौसल्याके मना करनेपर भी बड़ी प्रसन्नताके साथ वन चले गये।

वन जाते समय उनसे माता कौसल्याने कहा—'पिताने तुमको वन जानेकी आज्ञा दी है अवश्य; किंतु गौरवकी दृष्टिसे जैसे राजा तुम्हारे पूज्य हैं, उसी प्रकार मैं भी हूँ। मैं तुम्हें मना करती हूँ, इसलिये

तुम वनमें मत जाओ।' यही नहीं, उन्होंने तो यहाँतक कह दिया— 'यदि तुम मुझे छोड़कर वनमें चले जाओगे तो मैं उपवास करके प्राणोंका त्याग कर दूँगी।' इसके उत्तरमें भगवान् श्रीराम कहते हैं—'माता ! मैं आपको सिर नवाकर आपसे क्षमा माँगता हूँ, मुझमें पिताजीकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेकी शक्ति नहीं है; अतः मैं वनको ही जाना चाहता हूँ'—

नास्ति शक्तिः पितुर्वाक्यं समतिक्रमितुं मम।
प्रसादये त्वां शिरसा गन्तुमिच्छाम्यहं वनम्॥

(वा० रा० अयोध्या० २१। ३०)

'इसके सिवा हमारे कुलमें भी पहले राजा सगरके पुत्र ऐसे हो गये हैं कि जो पिताकी आज्ञासे पृथ्वी खोदते हुए मृत्युको प्राप्त हो गये। एवं जमदग्निनन्दन परशुरामजीने तो पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये अपनी माताका भी वध कर दिया था। अतः मैं भी पिताजीकी आज्ञाका ही पालन करूँगा।'

माता कौसल्या धर्मशास्त्रके अनुसार 'पितासे भी माताकी आज्ञा अधिक माननीय है' इसलिये तो श्रीरामको यदि केवल पिताकी ही आज्ञा हो तो वन न जानेके लिये कह रही हैं; किंतु यदि पिता दशरथ और माता कैकेयी—दोनोंकी आज्ञा हो तो वन जानेके लिये सम्मति दे देती हैं—

जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥

(रा० च० मा० अयोध्या० ५६। १)

माता कौसल्याके साथ भगवान् श्रीरामके उपर्युक्त व्यवहारमें नीति, धर्म, स्वार्थ-त्याग और पितृ-आज्ञा-पालनकी दृढ़ताका कितना अनुपम भाव भरा है !

माता कैकेयीने जब वन-गमनके समय भगवान् श्रीराम और श्रीलक्ष्मणको वल्कल वस्त्र पहननेके लिये दिये, तब उन्होंने उनको बड़ी प्रसन्नतापूर्वक धारण किया। तथा जब कैकेयीने सीताको वल्कल-वस्त्र पहननेके लिये दिये, तब सीता लज्जित-सी होकर श्रीरामसे बोलीं—'नाथ! वनवासी मुनिलोग चीर कैसे पहना करते हैं?' सीता चीर पहनना नहीं जानती थीं, अतः भगवान् श्रीरामने वस्त्रोंको अपने हाथमें ले लिया और आपत्तिका समय समझकर लज्जारहित हो सीताको वल्कल-वस्त्र पहनाने लगे। यह दृश्य देखकर प्रजाके लोग दुःखी हो रोने लगे। गुरु वसिष्ठजीके भी नेत्रोंमें आँसू भर आये। उन्होंने कैकेयीको फटकारते हुए कहा—'मूर्खा कैकेयी! यह तू धर्ममर्यादाका उल्लङ्घन कर रही है। तूने अकेले रामके ही वनवासका वर माँगा है। वर माँगते समय तूने सीताकी कोई चर्चा नहीं की है। इसलिये यह राजकुमारी वस्त्राभूषणोंसे विभूषित होकर ही रामके साथ वनको जाय।' यह बात सुनकर राजा दशरथने कैकेयीसे कहा—'गुरुजी ठीक कहते हैं। सीता तो वनमें जानेके ही योग्य नहीं है। मैंने इसे किसी भी रूपमें वन भेजनेकी प्रतिज्ञा नहीं की है, किंतु यदि यह जाती है तो यह अपने चीर-वस्त्र उतारकर वस्त्राभूषणोंके साथ सुखपूर्वक जा सकती है।'

(वा० रा० अयोध्या० सर्ग ३७)

यहाँ भगवान् श्रीरामने आवश्यकताके समय लज्जा न करके कर्तव्य-पालन करनेका बड़ा सुन्दर आदर्श व्यवहार किया है।

जब श्रीभरतने ननिहालसे लौटकर इस बातको जाना कि माता कैकेयीने भगवान् श्रीरामको वनवास देकर बड़ा अनर्थ किया है और इसी कारण पिताजीकी मृत्यु हो गयी है, तब दुःखित हो उन्होंने माता कैकेयीसे कहा—'श्रीरामचन्द्रजी बड़े ही धर्मात्मा हैं; गुरुजनोंके साथ

कैसा बर्ताव करना चाहिये, इसे वे अच्छी तरह जानते हैं। इसलिये उनका जैसा अपनी माताके प्रति बर्ताव था, वैसा ही उत्तम व्यवहार वे तेरे साथ भी करते थे। उन महापुरुष श्रीरामचन्द्रजीको तूने चीर और वल्कल पहनाकर वनमें भेज दिया। तूने राज्यके लोभमें पड़कर बड़ा ही अनर्थ कर डाला। तेरा विचार बड़ा ही पापपूर्ण है। मैं तेरी इच्छा कदापि पूर्ण नहीं करूँगा।' इस प्रकार उन्होंने उस समय मातासे बहुत-सी कठोर बातें कहीं (वा० रा० अयोध्या० सर्ग ७३-७४)। श्रीभरतके इस कथनसे भगवान् श्रीरामके सद्व्यवहारके सम्बन्धमें उनकी कितनी आस्था व्यक्त होती है। इन वचनोंको सुनकर तो कैकेयीका मन भी बदल गया। वे जब श्रीभरतके साथ वनमें श्रीरामके पास गयीं, तब उन्होंने अपने अपराधके लिये क्षमा-प्रार्थना की—'राम ! मायासे मुग्धचित्त हो जानेके कारण मुझ कुबुद्धिने तुम्हारे राज्याभिषेकमें विघ्न डाल दिया। तुम मेरी इस कुटिलताको क्षमा करो; क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष सदा क्षमाशील ही होते हैं।' इसपर भगवान् श्रीरामने कहा—'महाभागे ! मेरी प्रेरणासे ही देवताओंकी कार्य-सिद्धिके लिये तुम्हारे मुखसे वे शब्द निकले थे। इसमें तुम्हारा क्या दोष है। तुम जाओ, रात-दिन निरन्तर हृदयमें मेरा ही चिन्तन करनेसे तुम सर्वत्र स्नेहरहित होकर मेरी भक्तिद्वारा शीघ्र ही मुक्त हो जाओगी।'

(अध्यात्मरामा० अयोध्या० सर्ग ९)

भगवान् श्रीराम कैकेयीके अपराधको ही नहीं मानते और उसे मुक्तिका वर देते हैं। कितना उत्तम क्षमाभाव है !

यही नहीं, जब श्रीराम वनको जाने लगे, उस समय जबतक उनके रथकी धूलि दिखायी देती रही, तबतक श्रीदशरथजी उनकी ओर ही देखते रहे। जब धूलिका दिखायी देना बंद हो गया, तब वे अत्यन्त

शोकार्त होकर गिर पड़े। उस समय उन्हें सहारा देनेके लिये रानी कौसल्या उनकी दाहिनी बाँहके पास और कैकेयी उनकी बायीं ओर जा पहुँचीं। कैकेयीको देखते ही राजाने कहा—'कैकेयी ! तेरे विचार पापपूर्ण हैं। मैं तुझे देखना नहीं चाहता। तूने अर्थलोलुप होकर धर्मका त्याग किया है, अतएव मैं तेरा परित्याग करता हूँ। तेरा पुत्र भरत भी यदि निष्कण्टक राज्यको पाकर प्रसन्न हो तो वह मेरे लिये श्राद्धमें जो पिण्ड या जल आदि दान करे, वह मुझे प्राप्त न हो' (वा० रा० अयोध्या० ४२। ६—९)। किंतु जब रावण-वधके अनन्तर श्रीदशरथजी विमानपर स्थित हुए वहाँ श्रीरामके पास आये और उन्होंने कैकेयीकी बातोंको स्मरण करके दुःख प्रकट किया एवं श्रीरामको अयोध्यामें जाकर भरतसे मिलने और राज्यपर प्रतिष्ठित होनेके लिये कहा, तब श्रीरामने उनसे हाथ जोड़कर यही प्रार्थना की—'धर्मज्ञ ! आप कैकेयी और भरतपर प्रसन्न हों। प्रभो ! आपने जो कैकेयीसे कहा था कि 'मैं पुत्रके सहित तेरा त्याग करता हूँ, आपका यह घोर शाप पुत्रसहित कैकेयीको स्पर्श न करे* अर्थात् उसे आप लौटा लें।' माता कौसल्याके महलमें जब श्रीलक्ष्मणने माता कैकेयीके विषयमें आक्षेपपूर्ण वचन कहे, तब भगवान् श्रीराम उनसे कहते हैं—

यस्या मदभिषेकार्थे मानसं परितप्यते।
माता नः सा यथा न स्यात् सविशङ्का तथा कुरु॥
तस्याः शङ्कामयं दुःखं मुहूर्तमपि नोत्सहे।
मनसि प्रतिसंजातं सौमित्रेऽहमुपेक्षितुम्॥

---

* कुरु प्रसादं धर्मज्ञ कैकेय्या भरतस्य च॥
सपुत्रां त्वां त्यजामीति यदुक्ता केकयी त्वया।
स शापः केकयीं घोरः सपुत्रां न स्पृशेत् प्रभो॥
(वा० रा० युद्ध० ११९। २५-२६)

न बुद्धिपूर्वं नाबुद्धं स्मरामीह कदाचन।
मातॄणां वा पितुर्वाहं कृतमल्पं च विप्रियम्॥

(वा० रा० अयोध्या० २२। ६—८)

'लक्ष्मण! मेरे राज्याभिषेक (की सम्भावना) के कारण जिसके चित्तमें संताप हो रहा है, उस हमारी माता कैकेयीको जिससे मेरे ऊपर किसी तरहका संदेह न हो,वही काम करो। उसके मनमें संदेहके कारण उत्पन्न हुए दुःखकी मैं एक मुहूर्तके लिये भी उपेक्षा नहीं कर सकता। मैंने कभी जान-बूझकर या अनजानमें माताओं या पिताजीका कभी थोड़ा भी अप्रिय कार्य किया हो, ऐसा याद नहीं पड़ता।'

अपने प्रति कठोर-से-कठोर व्यवहार करनेवाली माता कैकेयीके प्रति भी भगवान् श्रीरामका कितना सम्मान और पूज्य भाव है!

वनमें जाते समय भगवान् श्रीरामने सीता और लक्ष्मणको अपने आरामके लिये साथ नहीं लिया, बल्कि उन्होंने तो उनसे घरपर रहकर माता-पिताकी सेवा करनेके लिये ही कहा।

जब भगवान् श्रीरामने वनके भयंकर कष्ट दिखाकर सीताको अयोध्या रहनेका संकेत किया, तब सीताने कहा—'बाल्यावस्थामें एक ज्यौतिष-शास्त्रविशारद विप्रवरने मुझे देखकर यह कहा था कि 'तू अपने पतिके साथ वनमें रहेगी।' तो उन ब्राह्मण महोदयका वचन सत्य हो, मैं अवश्य आपके साथ वनमें चलूँगी तथा एक बात यह भी है कि आपने बहुत-से ब्राह्मणोंके मुखसे बहुत-सी रामायणें सुनी हैं, इनमेंसे किसीमें भी क्या सीताके बिना रामजी वनको गये हैं? अतः मैं सर्वथा आपके मार्गमें सहायक होकर आपके साथ चलूँगी। यदि आप मुझे छोड़कर चले जायँगे तो मैं अभी आपके सामने ही अपने प्राण छोड़ दूँगी।' (अ० रा० अयोध्या० सर्ग ४)

जब भगवान् श्रीराम किसी प्रकार भी नहीं माने, तब सीताजीने उन्हें यहाँतक कह दिया—

ऐसेउ बचन कठोर सुनि जौं न हृदउ बिलगान।
तौ प्रभु बिषम बियोग दुख सहिहहिं पावँर प्रान॥

(रा० च० मा० अयोध्या० ६७)

इस प्रकार कहती हुई जब वे भगवान्‌के मुखसे वियोगकी बात सुनकर अत्यन्त व्याकुल हो गयीं, तब उनकी यह दशा देखकर श्रीरामने हृदयमें जान लिया कि इनको हठपूर्वक रखा जायगा तो ये प्राणोंको नहीं रखेंगी। यह सोचकर वे उनको उनके संतोष और सुखके लिये ही वनमें अपने साथ ले गये।

इसी प्रकार श्रीलक्ष्मणके विषयमें भी समझना चाहिये। श्रीलक्ष्मणसे भगवान् श्रीरामने कहा—'भैया! भरत और शत्रुघ्न घरपर नहीं हैं, महाराज वृद्ध हैं और उनके मनमें मेरे लिये दुःख है। इस अवस्थामें मैं तुमको साथ लेकर वनमें जाऊँ तो अयोध्या सब प्रकारसे अनाथ हो जायगी। गुरु, पिता, माता, प्रजा और परिवार—सभीपर दुःसह दुःख आ पड़ेगा। अतः तुम यहीं रहकर माता-पिताकी सेवा करो और सबका संतोष करते रहो; क्योंकि जिसके राज्यमें प्रजा दुःखी रहती है, वह राजा अवश्य नरकका अधिकारी होता है।' भगवान्‌के इन नीति और धर्मसे युक्त वचनोंको सुनकर श्रीलक्ष्मण बोले—'स्वामिन्! आपने जो कुछ मुझे कहा है, वह ठीक है; इसमें मुझे आपका कोई दोष नहीं दीखता, मेरी कायरता ही इसमें हेतु है; किंतु मैं तो आपके स्नेहमें पला हुआ हूँ, मेरे तो सब कुछ केवल आप ही हैं। धर्म और नीतिका उपदेश तो उसको देना चाहिये, जो संसारमें कीर्ति, ऐश्वर्य और सद्गति चाहता हो; किंतु जो मन, वचन और कर्मसे चरणोंमें प्रेम रखता हो, क्या वह भी त्याग करने योग्य है?' (रा० च० मा० अयोध्या० ७०-७१)

इस प्रकार श्रीलक्ष्मणने वनमें साथ चलनेके लिये श्रद्धा-प्रेमपूर्वक बहुत ही आग्रह किया और कहा— 'मैं आपकी सेवा करनेके लिये आपके पीछे-पीछे चलूँगा। आप इसके लिये आज्ञा दीजिये। प्रभो! आप मुझपर कृपा कीजिये, नहीं तो मैं प्राण त्याग दूँगा।'

(अ० रा० अयोध्या० ४। ५०—५२)

इसपर भगवान्‌ने यह समझकर कि मेरे वियोगमें लक्ष्मण प्राण नहीं रखेगा, उसके सुख और संतोषके लिये उसे माता सुमित्रासे आज्ञा लेकर साथ चलनेकी अनुमति दे दी।

भगवान् श्रीरामको भाइयोंके सुख-संतोषके लिये ही राज्य आदि अभीष्ट था, अपने लिये नहीं। जब श्रीभरत मन्त्री, गुरुजन, माताओं और सेनाके सहित चित्रकूट गये, तब श्रीभरतके सेनासहित चित्रकूट आनेका समाचार सुनकर श्रीलक्ष्मण क्षुब्ध होकर श्रीभरतके प्रति न कहने योग्य शब्द कह बैठे। श्रीरामने श्रीभरतकी प्रशंसा करते हुए कहा—

धर्ममर्थं च कामं च पृथिवीं चापि लक्ष्मण।
इच्छामि भवतामर्थे एतत् प्रतिशृणोमि ते॥
भ्रातॄणां संग्रहार्थं च सुखार्थं चापि लक्ष्मण।
राज्यमप्यहमिच्छामि सत्येनायुधमालभे॥

(वा० रा० अयोध्या० ९७। ५-६)

'लक्ष्मण! मैं सचाईसे अपने आयुधकी शपथ लेकर कहता हूँ कि मैं धर्म, अर्थ, काम और सारी पृथ्वी— सब कुछ तुम्हीं लोगोंके लिये चाहता हूँ। लक्ष्मण! मैं राज्यको भी भाइयोंकी भोग्य-सामग्री समझकर उनके सुखके लिये ही चाहता हूँ।'

यह बात आगे जाकर श्रीभरत और श्रीरामके परस्पर वार्तालाप और व्यवहारसे बिलकुल स्पष्ट हो जाती है। जब श्रीभरतने बड़े ही

विनयसे भगवान् श्रीरामसे अयोध्या चलने और राजतिलक करानेकी प्रार्थना की, तब वहाँ श्रीभरतके प्रेममय वचनोंको सुनकर गुरु वसिष्ठजीके हृदयमें प्रेम उमड़ आया और उन्होंने कहा—

तुम्ह कानन गवनहु दोउ भाई। फेरिअहिं लखन सीय रघुराई॥

(रा० च० मा० अयोध्या० २५६। २)

इसपर श्रीभरत और श्रीशत्रुघ्न बड़े ही प्रसन्न हुए—

सुनि सुबचन हरषे दोउ भ्राता। भे प्रमोद परिपूरन गाता॥

(रा० च० मा० अयोध्या० २५६। २)

और श्रीभरत प्रेममग्न हुए बोल उठे—

कानन करउँ जनम भरि बासू। एहि तें अधिक न मोर सुपासू॥

अंतरजामी रामु सिय तुम्ह सरबग्य सुजान।
जौं फुर कहहु त नाथ निज कीजिअ बचनु प्रवान॥

(रा० च० मा० अयोध्या० २५६। ४,२५६)

इसपर भगवान् श्रीराम भरतसे अपना असमञ्जस प्रकट करते हुए कहते हैं—

राखेउ रायँ सत्य मोहि त्यागी। तनु परिहरेउ पेम पन लागी॥
तासु बचन मेटत मन सोचू। तेहि तें अधिक तुम्हार सँकोचू॥

मनु प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करौं सोइ आजु।

(रा० च० मा० अयोध्या० २६४। ३-४, २६४)

इस प्रकार भगवान् श्रीरामने भरतके ऊपर ही सब भार छोड़ दिया। अपने प्रेमी भ्राता भरतके प्रति कैसा उत्तम, सरलतापूर्ण बर्ताव है! श्रीभरतने अपनी बात विनयपूर्वक फिर भी निवेदन की—

तिलक समाजु साजि सबु आना। करिअ सुफल प्रभु जौं मनु माना॥

सानुज पठइअ मोहि बन कीजिअ सबहि सनाथ।
नतरु फेरिअहिं बंधु दोउ नाथ चलौं मैं साथ॥
नतरु जाहिं बन तीनिउ भाई। बहुरिअ सीय सहित रघुराई॥

(रा० च० मा० अयोध्या० २६८।४, २६८, २६९।१)

परंतु साथ ही यह भी कह देते हैं—

प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि जो जेहि आयसु देब।
सो सिर धरि धरि करिहि सबु मिटिहि अनट अवरेब॥

(रा० च० मा० अयोध्या० २६९)

इसके उत्तरमें अन्तमें भगवान् रामने गुरुजनोंको आदर देते हुए यही कहा—

मातु पिता गुरु स्वामि निदेसू। सकल धरम धरनीधर सेसू॥
सो तुम्ह करहु करावहु मोहू। तात तरनिकुल पालक होहू॥

× × ×

सो बिचारि सहि संकटु भारी। करहु प्रजा परिवारु सुखारी॥

× × ×

जानि तुम्हहि मृदु कहउँ कठोरा। कुसमयँ तात न अनुचित मोरा॥
होहिं कुठायँ सुबंधु सहाए। ओड़िअहिं हाथ असनिहु के घाए॥

(रा० च० मा० अयोध्या० ३०६।१—४)

भगवान्‌के प्रेमपूर्ण वचन सुनकर श्रीभरत बड़े संतुष्ट हुए। श्रीभरतने सोचा—जब मेरे ऊपर सब भार दे दिया, तब मेरा यह कर्तव्य नहीं कि मैं भगवान् श्रीरामको संकोचमें डालूँ। अतएव उन्होंने कहा—

अब कृपाल जस आयसु होई। करौं सीस धरि सादर सोई॥

(रा० च० मा० अयोध्या० ३०७।४)

किंतु इसी प्रकरणमें अध्यात्मरामायण और वाल्मीकीय रामायणमें श्रीभरतके कुछ विशेष आग्रह करनेकी बात मिलती है। अयोध्या चलनेके लिये विशेष आग्रह करते हुए उन्होंने यह बात कही कि 'यदि पिताजीने कामी, मूढ़बुद्धि, स्त्रीके वशीभूत, भ्रान्तचित्त और उन्मत्त होनेके कारण ऐसी आज्ञा दे दी, तो भी बुद्धिमान् पुरुषको उसका आदर नहीं करना चाहिये।'

इसपर भगवान् श्रीरामने पिताजीपर ऐसा दोष नहीं लगानेका संकेत करते हुए कहा—'पिताजीने स्त्रीवश, कामवश अथवा मूढ़बुद्धि होकर ऐसा नहीं कहा। उन सत्यवादीने अपनी पूर्व प्रतिज्ञाके अनुसार ही वर दिये हैं और मैं भी उनसे सत्य प्रतिज्ञा कर चुका हूँ कि मैं ऐसा ही करूँगा। अतः मैं रघुवंशमें जन्म लेकर अपना वचन कैसे पलट सकता हूँ।'

(अ० रा० अयोध्या० ९। ३३—३६)

यह सुनकर श्रीभरतने कहा—'जबतक श्रीराम मुझपर प्रसन्न नहीं होंगे, तबतक मैं अनशन करके यहीं इनके सामने धरना दूँगा।' यों कह वे कुशका आसन बिछाकर उसपर बैठ गये। तब श्रीरामने उनको समझाया कि क्षत्रियके लिये इस प्रकार धरना देना शास्त्रविरुद्ध है। भगवान्‌के द्वारा समझाये जानेपर श्रीभरतने उनकी बात मान ली और चौदह वर्षकी अवधिके आधारके लिये भगवान्‌के चरणोंसे स्पर्श की हुई पादुकाएँ लेकर वे नन्दिग्राममें लौट आये और मुनिवेषमें नियम-व्रत धारण करके भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार राज्यकार्यको सम्हालने लगे।

(वा० रा० अयोध्या० १११से ११५)

भगवान् श्रीराम चौदह वर्षकी अवधि समाप्त होनेपर भक्त विभीषणके अनुरोध करनेपर भी वहाँ नहीं रुके। वायुयानद्वारा

अयोध्या पधारकर उन्होंने भरतके संतोषके लिये ही राज्यतिलक स्वीकार किया, अपने सुखके लिये नहीं। यह बात भगवान्‌के उस वचनसे और भी पुष्ट हो जाती है, जो उन्होंने श्रीभरतका हाल जानने और उनको संदेश देनेके लिये अयोध्या भेजते समय श्रीहनुमान्‌से कहा है—'वानरश्रेष्ठ ! मेरे आनेकी बात सुनकर भरतकी जैसी मुखमुद्रा हो, उसपर ध्यान रखना और फिर वहाँका सब हाल मुझे सुनाना। भरतके मुखके वर्ण, दृष्टि तथा बातचीतसे उसके सारे भावोंको भलीभाँति समझनेका प्रयत्न करना। यदि श्रीमान् रघुनन्दन भरत कैकेयीके साथ स्वयं राज्य चाहता हो तो वह प्रसन्नतासे सारी पृथ्वीका शासन करे।'*

किंतु श्रीभरतका तो भगवान् श्रीरामके प्रति दूसरा ही भाव था। वे तो भगवान्‌के प्रेममें निमग्न उनके अत्यन्त श्रद्धासम्पन्न परम भक्त थे। वे इस पृथ्वीलोकके तुच्छ राज्यको क्यों चाहने लगे। वे तो भगवान्‌के विरहमें व्याकुल हो रहे थे। उनकी प्रेम और विरहकी अवस्थाका वर्णन करते हुए श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

रहेउ एक दिन अवधि अधारा। समुझत मन दुख भयउ अपारा॥
कारन कवन नाथ नहिं आयउ। जानि कुटिल किधौं मोहि बिसरायउ॥

× × ×

---

* एतच्छ्रुत्वा यमाकारं भजते भरतस्ततः।
स च ते वेदितव्यः स्यात् सर्वं यच्चापि मां प्रति॥
ज्ञेयाः सर्वे च वृत्तान्ता भरतस्येङ्गितानि च।
तत्त्वेन मुखवर्णेन दृष्ट्या व्याभाषितेन च॥
संगत्या भरतः श्रीमान् राज्येनार्थी स्वयं भवेत्।
प्रशास्तु वसुधां सर्वामखिलां रघुनन्दनः॥
(वा० रा० युद्ध० १२५। १४, १५,१७)

जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ॥
मोरे जियँ भरोस दृढ़ सोई। मिलिहहिं राम सगुन सुभ होई॥
बीतें अवधि रहहिं जौं प्राना। अधम कवन जग मोहि समाना॥
राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत॥
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत॥

(रा० च० मा० उत्तर० १ क)

श्रीहनुमान् वहाँ आकर क्या देखते हैं—

बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात॥
देखत हनूमान अति हरषेउ। पुलक गात लोचन जल बरषेउ॥

(रा० च० मा० उत्तर० १ ख, २। १)

जब भगवान् श्रीराम पुष्पक-विमानमें स्थित हुए अयोध्या पहुँचे और उन्होंने श्रीभरतको जटा, वल्कल एवं कौपीन धारण किये अपनी ओर पैदल ही आते देखा, तब वे कहने लगे—'अहो ! देखो तो सही, प्राणोंसे भी बढ़कर प्यारा और हितैषी मेरा भाई भरत मुझे निकट आया सुनकर हर्षमें भरे हुए वृद्ध मन्त्रियों और महर्षि वसिष्ठजीको साथ लेकर मुझसे मिलनेके लिये आ रहा है।' निकट आनेपर तो भगवान्‌का हृदय विरहसे कातर हो उठा और वे 'भैया ! भैया भरत ! तुम कहाँ हो ?' इस प्रकार कहते हुए तथा बार-बार भाई ! भाई ! भाई ! की रट लगाते हुए तुरंत ही विमानसे उतर पड़े।* भगवान्‌को भूमिपर उतरे देख श्रीभरत हर्षके आँसू बहाते हुए उनके सामने दण्डकी

---

* यानादवततारााशु विरहक्लिन्नमानसः।
भ्रातर्भ्रातः पुनर्भ्रातर्भ्रातर्भ्रातर्हुर्वदन्मुहुः॥

(पद्म० पाताल० २। २८)

भाँति धरतीपर गिर पड़े। यह देख श्रीरामने उनको हर्षपूर्ण दृष्टिसे देखते हुए अपनी दोनों भुजाओंसे उठाकर छातीसे लगा लिया।

(पद्म० पाताल० २)

अपने अतिशय प्रेमी भक्त भाई भरतके प्रति कैसा उच्च कोटिका प्रेम-व्यवहार है! जो भगवान्‌को जिस प्रकार भजता है, भगवान् भी उसे उसी प्रकार भजते हैं।* सीताजी भगवान्‌के विरहमें व्याकुल होती हैं तो भगवान् भी उनके वियोग-विरहमें व्याकुल हो जाते हैं। सीताजीका भगवान् श्रीरामके प्रति अनन्य प्रेम था। भगवान् श्रीरामने स्वयं उनके प्रेमकी प्रशंसा की है। श्रीहनुमान् सीताजीसे श्रीरामका संदेश सुनाते हुए कहते हैं—

रघुपति कर संदेसु अब सुनु जननी धरि धीर।
अस कहि कपि गदगद भयउ भरे बिलोचन नीर॥

× × ×

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥
प्रभु संदेसु सुनत बैदेही। मगन प्रेम तन सुधि नहिं तेही॥

(रा० च० मा० सुन्दर० १४, १५। ३-४)

भगवान्‌का सीताके प्रति कितना उच्च कोटिका प्रेम है!

प्रेमी भक्तोंके साथ प्रेम-व्यवहारका दर्शन उनके चरित्रमें जगह-जगह होता है। जब वे वनमें मुनियोंकी हड्डियोंको देखते हैं, तब राक्षसोंके मारनेकी प्रतिज्ञा कर लेते हैं और सब मुनियोंके आश्रमोंपर जा-जाकर उन्हें सुख देते हैं—

---

* ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(महा० भीष्म० २८। ११)

निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह॥

(रा० च० मा० अरण्य० ९)

श्रीसुतीक्ष्ण मुनिका भी भगवान्‌के प्रति बहुत उत्कट प्रेम था। जब उन्होंने सुना कि भगवान् उनके आश्रममें आ रहे हैं, तब उन्हें बड़ी ही प्रसन्नता हुई और वे अनेक मनोरथ करते हुए शीघ्रतासे दौड़ पड़े। उस समय उनकी बड़ी विचित्र दशा हो गयी। श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा। को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा॥
कबहुँक फिरि पाछें पुनि जाई। कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई॥

(रा० च० मा० अरण्य० १०।६)

उनके प्रेमको देखकर भगवान् उनके हृदयमें प्रकट हो गये। मुनि सुतीक्ष्णजी हृदयमें भगवान्‌के दर्शन पाकर रास्तेमें ही स्थिर होकर बैठ गये। उनका शरीर रोमाञ्चसे कटहलके फलके समान हो गया। तब भगवान् श्रीराम उनके निकट आ गये। मुनिने स्तुति की। अन्तमें भगवान्‌ने उन्हें प्रगाढ़ भक्ति, वैराग्य, विज्ञान, समस्त गुण और ज्ञानके निधान हो जानेका वरदान दिया।

अपनेमें प्रेम करनेवालेके साथ भगवान्‌का कितना प्रेमभरा व्यवहार है!

इसी तरह उनका भक्तिमती शबरीके साथ जो आदर्श प्रेमका बर्ताव है, वह भी बहुत ही प्रशंसनीय है। शबरी भीलनी थी, निम्न जातिकी थी; किंतु भगवान्‌ने उसके प्रेमके कारण उसके लाये हुए बेर आदि खाये और उसे नवधा भक्तिका उपदेश देकर उसका उद्धार कर दिया—

कंद मूल फल सुरस अति दिए राम कहुँ आनि।
प्रेम सहित प्रभु खाए बारंबार बखानि॥

(रा० च० मा० अरण्य० ३४)

इससे हमें, अपने प्रेमियोंके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये, यह बात सीखनी चाहिये।

श्रीहनुमान्‌जीके साथ भी भगवान् बड़ा ही प्रेमका व्यवहार करते हैं। श्रीहनुमान्‌जीके श्रद्धा, भक्ति, विनय और प्रेमयुक्त वचन सुनकर अन्तमें भगवान् कहते हैं—

समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ॥
सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

(रा० च० मा० किष्किन्धा० ३।४;३)

श्रीहनुमान्‌जीके साथ जो उनकी बातचीत हुई, उसमें भगवान् श्रीरामकी विनय, निरभिमानता, कुशलता और प्रेम भरा हुआ है; हमलोगोंको उससे विनय और निरभिमानताकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

इतना ही नहीं, श्रीहनुमान्‌जीके प्रति तो भगवान्‌ने यहाँतक कह डाला कि 'हम तुम्हारे उपकारको कभी भुला नहीं सकते और तुम्हारे उपकारका बदला भी नहीं चुकाना चाहते; क्योंकि प्रत्युपकारका अवसर तो तब आये, जब तुमपर कोई विपत्ति पड़े। ऐसा मैं नहीं चाहता—

एकैकस्योपकारस्य प्राणान् दास्यामि ते कपे।
शेषस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम्॥
मदङ्गे जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे।
नरः प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पात्रताम्॥

(वा० रा० उत्तर० ४०।२३-२४)

'हनुमान्! तुम्हारे एक-एक उपकारके बदले मैं अपने प्राण दे दूँ तो भी इस विषयमें शेष उपकारोंके लिये तो हम तुम्हारे ऋणी ही बने

रहेंगे। तुम्हारे द्वारा किये हुए उपकार मेरे शरीरमें ही विलीन हो जायँ—उनका बदला चुकानेका मुझे कभी अवसर ही न मिले; क्योंकि आपत्तियाँ आनेपर ही मनुष्य प्रत्युपकारोंका पात्र होता है।'

भगवान् श्रीरामका कृतज्ञताका भाव भी कितना महान् आदर्श था! सखा सुग्रीवके साथ उनका जो मैत्री और प्रेमका व्यवहार है, उससे हमें मैत्री और प्रेमका व्यवहार सीखना चाहिये। मित्रके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये—इस विषयमें भगवान्‌ने वहाँ बड़ा ही सुन्दर उपदेश दिया है। केवल उपदेश ही नहीं दिया है, स्वयं वैसा ही उनके साथ आचरण-बर्ताव करके दिखा दिया है। जब भगवान्‌ने सुग्रीवके दुःखकी बात सुनी, तब उन्हें आश्वासन देते हुए कहा—

सुनु सुग्रीव मारिहउँ बालिहि एकहिं बान।
ब्रह्म रुद्र सरनागत गएँ न उबरिहिं प्रान॥
जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी॥
निज दुख गिरि सम रज करि जाना। मित्रक दुख रज मेरु समाना॥

× × ×

बिपति काल कर सतगुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥
सखा सोच त्यागहु बल मोरें। सब बिधि घटब काज मैं तोरें॥

(रा० च० मा० किष्किन्धा० ६; ७। १,३,५)

भगवान् श्रीरामका बाली-जैसे पापीके साथ भी बड़ा ही उदारताका व्यवहार है। उसके नीतियुक्त वचन सुनकर उन्होंने पहले नीतियुक्त ही उत्तर दिया, किंतु जब उसने श्रद्धा-प्रेमयुक्त रहस्यमय तात्त्विक वचन कहे, तब तो भगवान्‌ने उसके साथ अपार दया और प्रेमका व्यवहार किया। दोनों ही व्यवहार अलौकिक हैं। भगवान्‌ने बाली-जैसे पापीको भी मुक्ति दे दी, कैसा उदारतापूर्ण विरद है!

शरणागत विभीषणके साथ भी श्रीरामका बहुत ही त्यागपूर्ण प्रेमका व्यवहार है। जब विभीषण भगवान्‌की शरणमें आये, तब सुग्रीव आदिने उनपर शङ्का की और उनको बाँधकर रखनेकी सम्मति दी। भगवान्‌ने सुग्रीवकी उक्त सम्मतिकी प्रशंसा करते हुए उसे समझाकर भक्त विभीषणके प्रति अपने निम्नाङ्कित अभयदानव्रतका ही पालन किया—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

(वा० रा० युद्ध० १८। ३३)

'जो एक बार भी 'मैं तुम्हारा हूँ' यों कहकर शरण देनेके लिये याचना करता है, उसको मैं सब भूतोंसे अभय-दान दे देता हूँ—यह मेरा व्रत है'

इतना ही नहीं, लङ्काका राज्य विभीषणको देकर भी भगवान् अपनी ओरसे कुछ नहीं दिया समझकर संकोच ही करते रहे—

जो संपति सिव रावनहि दीन्हि दिएँ दस माथ।
सोइ संपदा बिभीषनहि सकुचि दीन्हि रघुनाथ॥

(रा० च० मा० सुन्दर० ४९ ख)

इसी प्रकार अपने प्रति उपकार करनेवालेके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये—यह शिक्षा हमें, भगवान्‌ने जटायुके साथ जो व्यवहार किया, उससे लेनी चाहिये। भगवान् श्रीरामका जटायुके साथ जो कृतज्ञता, दया और प्रेमसे भरा हुआ व्यवहार है, वह बहुत ही प्रशंसनीय और अनुकरणीय है।

भगवान् श्रीरामको देखकर जटायुने अपनेको महाराज दशरथका मित्र बतलाकर परिचय दिया और सीताके लिये दक्षिण दिशाकी ओर

संकेत किया। यह जानकर भगवान् श्रीरामने पिताका मित्र होनेके नाते जटायुको पिताके तुल्य आदर देते हुए उनका विधिपूर्वक अन्त्येष्टि-संस्कार किया—

दक्षिणामिति काकुत्स्थो विदित्वास्य तदिङ्गितम्।
संस्कारं लम्भयामास सखायं पूजयन् पितुः॥

(महा० वन० २७९। २४)

श्रीजटायुके साथ कैसा कृतज्ञता और दयालुताका व्यवहार है! श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

कर सरोज सिर परसेउ कृपासिंधु रघुबीर।
निरखि राम छबि धाम मुख बिगत भई सब पीर॥
अबिरल भगति मागि बर गीध गयउ हरिधाम।
तेहि की क्रिया जथोचित निज कर कीन्ही राम॥

(रा० च० मा० अरण्य० ३०,३२)

भगवान् श्रीरामका अपने सेवकोंके साथ भी त्यागका कितना उत्तम व्यवहार है! लङ्कासे वापस अयोध्या आनेपर गुरु वसिष्ठजीके सम्मुख अपने सेवकोंकी बड़ाई करते हुए भगवान् श्रीरामने कहा—'इनकी ही सहायतासे युद्धमें हमारी विजय हुई है।'

ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भए समर सागर कहँ बेरे॥
मम हित लागि जन्म इन्ह हारे। भरतहु ते मोहि अधिक पिआरे॥

(रा० च० मा० उत्तर० ८। ४)

भगवान् श्रीरामका गुरुजनोंके साथ भी बहुत ही उत्तम व्यवहार था। जब श्रीराम पिता दशरथजी और गुरु वसिष्ठजीकी आज्ञासे श्रीविश्वामित्रजीके साथ गये, तब वहाँ वे उनकी बहुत सेवा किया करते—

तेइ दोउ बंधु प्रेम जनु जीते। गुर पद कमल पलोटत प्रीते॥

(रा० च० मा० बाल० २२६। ३)

तथा लङ्का-विजयके पश्चात् जब भगवान् अयोध्यामें आये, तब उन्होंने बंदरोंको बुलाकर उन्हें गुरुजीके चरणोंमें वन्दना करनेको कहा और बतलाया कि गुरुजीकी कृपासे ही रणमें राक्षस मारे गये—

पुनि रघुपति सब सखा बोलाए। मुनि पद लागहु सकल सिखाए॥
गुर बसिष्ट कुलपूज्य हमारे। इन्ह की कृपाँ दनुज रन मारे॥

(रा० च० मा० उत्तर० ८। ३)

भगवान् श्रीराममें आस्तिक भाव भी बहुत उच्चकोटिका था। उनकी यज्ञ, दान, श्राद्ध आदिमें बड़ी आस्था थी। जब श्रीभरत चित्रकूट आये और उनसे श्रीरामने पिताजीकी मृत्युका समाचार सुना तब उन्होंने विधिपूर्वक पिताजीको पिण्डदान आदि किया। उस समय जाबालि नामक मुनिने श्राद्धपर आक्षेप करते हुए कुछ नास्तिकताकी बातें कहीं। तब तो उन्होंने मुनिको बहुत फटकारा।

(वा० रा० अयोध्या० सर्ग १०३, १०८, १०९)

भगवान् श्रीरामका प्रजाजनोंके साथ भी बहुत ही स्वार्थ-त्याग और प्रेमयुक्त आदर्श व्यवहार था। जब भगवान् श्रीराम वनमें जाने लगे, तब प्रजा बहुत ही व्याकुल हो गयी और बहुत-से लोग भगवान्‌के साथ जाने लगे। भगवान्‌ने उनको बहुत समझाया, किंतु वे लौटे नहीं। तब भगवान् तमसा-तीरपर उनको रात्रिमें सोते हुए छोड़कर ही आगे बढ़ गये।

चौदह वर्ष बीतनेपर जब भगवान् अयोध्यामें आये, तब यह देखकर कि समस्त प्रजाजन मुझसे मिलनेके लिये आतुर हो रहे हैं, उन्होंने अनेक रूप धारण कर लिये और सबसे एक साथ प्रेमपूर्वक मिले—

प्रेमातुर सब लोग निहारी। कौतुक कीन्ह कृपाल खरारी॥
अमित रूप प्रगटे तेहि काला। जथा जोग मिले सबहि कृपाला॥

× × ×

छन महिं सबहि मिले भगवाना। उमा मरम यह काहुँ न जाना॥

(रा० च० मा० उत्तर० ६। २-४)

इतना ही नहीं, जब राज्य करते उन्हें बहुत दिन व्यतीत हो गये और भगवान् श्रीरामने अपने दूतोंद्वारा यह बात सुनी कि सीताको लङ्कासे वापस लाकर रखनेमें लोग उनकी निन्दा करते हैं, तब भगवान्ने अन्य सब मित्रोंसे भी इसके विषयमें पूछा। उन सबने भी इस बातको ठीक बतलाया। तब प्रजाजनोंके संतोषके लिये भगवान् श्रीरामने निर्दोष होनेपर भी सीताका सदाके लिये त्याग कर दिया (वा० रा० उत्तर० ४३, ४५)। उनको वनमें छोड़ आनेके लिये पहले श्रीभरतको और फिर श्रीशत्रुघ्नको कहा तो वे दोनों यह बात सुनते ही मूर्च्छित हो पृथ्वीपर गिर पड़े।*

तदनन्तर भगवान् श्रीरामने लक्ष्मणको अपनी शपथ दिलाते हुए कहा—'तुम मेरी इस बातका प्रतीकार न करना।' तब लक्ष्मणने दुःखित हृदयसे सीताको वाल्मीकि मुनिके आश्रमके निकट छोड़ दिया एवं रोते और विलाप करते हुए लौट आये। वे मनमें यह विचारकर

---

* इति वाक्यं समाकर्ण्य रामस्य भरतोऽपतत्।
मूर्च्छितः सन् क्षितौ देहे कम्पयुक्तः सबाष्पकः॥
(पद्मा० पाताल० ५६। ६४)

तथा—

इति वाक्यं समाकर्ण्य रामस्य किल शत्रुहा।
सवेपथुः पपातोर्व्यां दुःखितः परदारुणः॥
(पद्मा० पाताल० ५८। ७-८)

बहुत शोकाकुल हो रहे थे कि भगवान् श्रीरामने लोकापवादके कारण निर्दोष सीताको छोड़ दिया। तब सुमन्त्रने श्रीलक्ष्मणको धैर्य बँधाया।

(वा० रा० उत्तर० सर्ग ४५, ४६, ५०, ५१)

भगवान् श्रीरामने प्रजाके संतोषके लिये ही अपनी प्रियतमा सीताका भी सदाके लिये परित्याग कर दिया। इस प्रकार स्वार्थ-त्यागपूर्वक प्रजा-पालनके कारण ही उनके राज्यकी महिमा वर्णन करते हुए उनके बर्तावको अनुकरणीय बताया गया है। आज भी कहीं किसी कार्यकी उत्तम व्यवस्था होती है तो उसके लिये यह लोकोक्ति कही जाती है कि यहाँ तो 'राम-राज्य' है। भगवान् श्रीरामके राज्यका वर्णन करते हुए श्रीगोस्वामीजीने बतलाया है—

राम राज बैठें त्रैलोका। हरषित भए गए सब सोका॥
बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप बिषमता खोई॥

बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहिं भय सोक न रोग॥

नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना॥

राम राज नभगेस सुनु सचराचर जग माहिं।
काल कर्म सुभाव गुन कृत दुख काहुहि नाहिं॥

राम राज कर सुख संपदा। बरनि न सकइ फनीस सारदा।
एकनारि ब्रत रत सब झारी। ते मन बच क्रम पति हितकारी॥
खग मृग सहज बयरु बिसराई। सबन्हि परस्पर प्रीति बढ़ाई॥

(रा० च० मा० उत्तर० २०। ४, २०, २१। ३, २१, २२। ३-४, २३। १)

श्रीरामके इस प्रजापालनके बर्तावको देखकर हमें भी अपने आश्रित जनोंके साथ वैसा ही उत्तम बर्ताव करना चाहिये।

इस प्रकार ऊपर यह दिग्दर्शन कराया गया कि भगवान् श्रीराम समस्त सद्गुणों तथा सदाचरणोंसे परिपूर्ण थे। अतः हम जो भी कार्य करें, हमें वहाँ यह सोचना चाहिये कि ऐसे अवसरपर भगवान् श्रीराम किस प्रकार उत्तम व्यवहार किया करते थे। यों उनके व्यवहारोंको स्मरण करनेसे हमें दो लाभ होते हैं—एक तो भगवान्‌के स्वरूपकी स्मृति बनी रहती है और दूसरे उनके-जैसा सुन्दर और उत्तम आदर्श व्यवहार करनेकी शिक्षा मिलती रहती है। ये दोनों ही मानव-जीवनके चरम उद्देश्य हैं। इसलिये हमें भगवान् श्रीरामकी प्रत्येक क्रियामें जो आदर्श व्यवहार, महान् गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्य भरा हुआ है, उसे लक्ष्यमें रखकर उनका नित्य-निरन्तर श्रद्धा-प्रेमपूर्वक चिन्तन करते हुए ही अपने सम्पूर्ण शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्मोंका निष्काम भावसे आचरण करना चाहिये।

—— ★ ——

गीतामें भजन

संसारके प्रायः सभी धार्मिक लोग भगवान्‌के भजनकी महिमा गाते हैं। भजनका तात्पर्य है भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव आदिका स्मरण। 'भज्' धातुसे 'भजन' शब्द बनता है। 'भज् सेवायाम्' इस उक्तिके अनुसार 'भज्' धातुका अर्थ है सेवा। सेवाका अभिप्राय है सेवन करना। पूजा भी सेवाका ही अङ्ग है। भगवान्‌के गुणगानको भी भजन कहते हैं, भगवन्नामके जप-कीर्तनको भी भजन कहते हैं और भगवान्‌के स्वरूपके स्मरणको भी भजन कहते हैं। इसलिये भगवान्‌के नामका जप, स्वरूपका ध्यान, स्तुति-प्रार्थना, सेवा-पूजा, शरण, आज्ञापालन—ये सब भजनके ही अङ्ग हैं।

हिंदुओंकी तो बात ही क्या है, हिंदुओंके सिवा मुसलमान, ईसाई आदि भी नाम-जपकी महिमा गाते हैं। उस परमात्माके नामका मुसलमान भाई लोग अल्लाह, खुदाके नामसे और ईसाई भाई लोग गॉडके नामसे स्मरण करते हैं। अपने इष्टदेवके किसी भी नामका जप करें, वह है तो भगवान्‌का ही नाम। भगवान्‌के ॐ, हरि, राम, नारायण, अल्लाह, खुदा, गॉड आदि अनन्त नाम हैं। उन सब नामोंका अर्थस्वरूप नामी एक ही है। उसे चाहे परमेश्वर कहें, चाहे परमात्मा कहें, चाहे भगवान् कहें या अन्य कुछ, वह एक ही है। उस भगवान्‌का कोई साकार रूपमें, कोई निराकार रूपमें, कोई सगुण रूपमें और कोई निर्गुण रूपमें भजन करते हैं; पर किसी भी रूपमें भजन करें, वह भगवान्‌का ही भजन है; क्योंकि भगवान् व्यक्त-अव्यक्त, साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण सभी रूपोंमें है। अतः सर्वरूप होनेके कारण उसको जो जिस रूपमें समझता है उसके लिये वह वैसा ही है।

गीता, रामायण, भागवत भक्तिप्रधान ग्रन्थ होनेके कारण इनमें भजनकी महिमा जगह-जगह मिलती है। इनके सिवा और भी ईश्वरको माननेवाले अनेक शास्त्र हैं। सभी शास्त्रोंके आदि, मध्य और अन्तमें सर्वत्र भगवद्भजनकी महिमा गायी गयी है। श्रीहरिवंशोक्त महाभारतश्रवणविधिमें बतलाया गया है—

वेदे रामायणे पुण्ये भारते भरतर्षभ।
आदौ चान्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते॥

(श्लोक ९३)

'भरतश्रेष्ठ! वेद, रामायण और पवित्र महाभारतके आदि, मध्य और अन्तमें सर्वत्र भगवान् श्रीहरिका ही गान किया जाता है।'

अब गीतामें वर्णित भजनके स्वरूप और महिमाका कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है। गीता अ० ४ श्लोक २४ से ३० तक 'यज्ञ'के नामसे परमात्माकी प्राप्तिके बहुत-से उपाय बतलाये गये और अन्तमें कहा गया कि—

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥

(गीता ४। ३२)

'इसी प्रकार और भी बहुत तरहके यज्ञ वेदकी वाणीमें विस्तारसे कहे गये हैं। उन सबको तू मन, इन्द्रिय और शरीरकी क्रियाद्वारा सम्पन्न होनेवाले जान; इस प्रकार तत्त्वसे जानकर उनके अनुष्ठानद्वारा तू कर्मबन्धनसे सर्वथा मुक्त हो जायगा।'

जितने भी प्रकारके यज्ञ हैं, वे सभी परमात्माकी प्राप्तिके साधन हैं, किंतु भगवान्‌के नामका जप तो साध्य है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—वह तो मेरा स्वरूप ही है—

'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि' (गीता १०। २५)

'सब प्रकारके यज्ञोंमें जपयज्ञ मैं हूँ।'

इसके सिवा, भगवान्‌ने यह स्पष्ट कहा है कि 'ॐ' इस परमात्माके नामका जप और उसके अर्थस्वरूप परमात्माका ध्यान करता हुआ जो मनुष्य देह त्याग कर जाता है वह परमगतिको प्राप्त होता है—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥

(गीता ८। १३)

भगवान्‌के बहुत-से नाम हैं, उनमेंसे ॐ, तत्, सत्—इन तीन

नामोंका गीतामें विशेषरूपसे उल्लेख किया गया है—

ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥

(१७ । २३)

'ॐ, तत्, सत्—ऐसे यह तीन प्रकारका सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका नाम कहा गया है, उसीसे सृष्टिके आदिकालमें ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञादि रचे गये।'

इसलिये यज्ञ, दान, तप आदि धार्मिक क्रियाएँ 'ॐ' का उच्चारण करके ही आरम्भ होती हैं तथा वेदोंमें भी 'ॐ' का उच्चारण करके ही मन्त्रोच्चारण करनेका विधान है। इन ॐ, तत्, सत्—इन तीनों नामोंकी महिमा गीताप्रेससे प्रकाशित गीतातत्त्वविवेचनी अ० १७ श्लोक २४ से २७ तककी टीकामें देख सकते हैं।

भगवान्‌के स्वरूपकी जो स्मृति है, वह उच्चकोटिका भजन है; क्योंकि नामका जप तो वाणी और श्वाससे भी हो सकता है; पर भगवान्‌के स्वरूपका स्मरण तो मनसे ही हो सकता है और जो कार्य मनसे होता है वही श्रेष्ठ माना जाता है। इसलिये मनसे भगवत्स्मृतिरूप भजनकी विशेष महिमा है। उससे भगवत्प्राप्ति सुगमतापूर्वक और शीघ्र हो जाती है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥

(गीता ८ । १४)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(गीता १२। ७)

'हे अर्जुन! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ।'

इस प्रकार गीतामें कहीं भजन, कहीं स्मरण और कहीं ध्यानके नामसे भजनका उल्लेख किया गया है। उनमेंसे किसी एक श्लोकको भी हमलोग धारण कर लें तो हमारा उद्धार हो सकता है। गीतामें बताया गया है कि जितने प्रकारके भी साधन हैं, उन सबमें ईश्वरकी भक्ति यानी भजन सबसे श्रेष्ठ है।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(गीता ६। ४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए मनसे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे सबसे बढ़कर परम श्रेष्ठ मान्य है।'

संसारमें भजनेके योग्य एक परमात्मा ही है। संसार नाशवान् और क्षणभङ्गुर है। इसमें जो सुख प्रतीत होता है, वह वास्तवमें सुख नहीं है। मनुष्य-शरीर बहुत ही दुर्लभ है, ऐसे दुर्लभ मनुष्य-शरीरको पाकर जो परम आनन्दरूप भगवान्‌को छोड़कर विषयोंमें रमण करता है, वह मूर्ख है। अतः कल्याणकामी मनुष्यको उचित है कि इस दुर्लभ मानव-शरीरको पाकर निष्काम प्रेमभावसे नित्य-निरन्तर केवल भगवान्‌का ही भजन करे। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥

(गीता ९। ३३ का उत्तरार्ध)

'अर्जुन ! तू सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर।'

भगवान्‌का भजन करनेवाला मनुष्य जो कुछ भी चाहता है, भगवान् उसकी इच्छाकी पूर्ति करते हैं। कहीं इच्छा-पूर्ति नहीं भी करते तो उस इच्छा-पूर्ति न करनेमें भी उसके लिये परम हित भरा हुआ है। भगवान्‌ने किसी भी प्रकारसे भजन करनेवालेको श्रेष्ठ बताया है और निष्कामीको तो अपना स्वरूप ही बताया है। भगवान् कहते हैं—

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥

(गीता ७। १८)

'ये उपर्युक्त सभी भक्त उदार हैं, परंतु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरूप ही है—ऐसा मेरा मत है; क्योंकि वह मद्गत मन-बुद्धिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम गतिस्वरूप मुझमें ही अच्छी प्रकार स्थित है।'

भगवान्‌ने अन्य देवताओंकी उपासना करनेवाले मनुष्योंको भी आदर देकर उन्हें अपना ही भक्त बतलाया है, किंतु उनकी उस प्रणालीको भगवद्भक्तिकी अपेक्षा निम्नश्रेणीकी कहा है—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥

(गीता ९। २३)

'हे अर्जुन ! यद्यपि श्रद्धासे युक्त जो सकाम भक्त दूसरे देवताओंको पूजते हैं, वे भी मुझको ही पूजते हैं, किंतु उनका वह पूजन करना अविधिपूर्वक यानी अज्ञानपूर्वक है।'

यह भी बताया है कि देवताओंकी उपासना करनेवाले उन अल्प-बुद्धि मनुष्योंको जो फल प्राप्त होता है, वह आदि-अन्तवाला और

नाशवान् है तथा देवताओंके भक्त देवताओंको प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त चाहे जैसे ही भजें अन्तमें वे मुझको ही प्राप्त होते हैं—

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥

(गीता ७। २३)

इससे हमलोगोंको यह समझना चाहिये कि सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये प्राणियों और मनुष्योंसे याचना करनेकी अपेक्षा देवताओंसे याचना करना उत्तम है और देवताओंसे याचना करनेकी अपेक्षा भगवान्‌से याचना करना उत्तम है तथा पदार्थोंकी याचनाकी अपेक्षा भगवान्‌से कल्याणकी याचना करना उत्तम है और किसी भी प्रकारकी याचना न करके निष्काम प्रेमभावसे भजन करना सर्वोत्तम है। भगवान्‌ने चार प्रकारके भक्तोंमेंसे ऐसे निष्कामी प्रेमी भक्तको अपना अतिशय प्यारा बताया है—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

(गीता ७। १७)

'अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी—इन चार प्रकारके भक्तोंमेंसे नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेमभक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है; क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है।'

जो मनुष्य अनन्य प्रेमभावसे भगवान्‌को भजता है, भगवान् उसकी इच्छाके अनुसार उसे प्राप्त हो जाते हैं । भगवान्‌की प्राप्ति बिना भक्तिके यज्ञ, दान, तप, वेदाध्ययनसे भी नहीं होती, बल्कि अनन्य भक्तिसे ही साधककी इच्छाके अनुसार भगवत्प्राप्ति होती है। वह दर्शन

करना चाहता है तो भगवान् उसे दर्शन दे देते हैं, वह ज्ञान चाहता है तो ज्ञान दे देते हैं और वह मुक्ति चाहता है तो सायुज्य मुक्ति दे देते हैं। आवश्यकता है केवल अनन्य विशुद्ध प्रेमपूर्वक भगवान्‌का भजन करने की। भगवान् कहते हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(गीता ११। ५४)

कोई कैसा भी पापी क्यों न हो, भगवान्‌की भक्तिके प्रभावसे उसके सारे पापोंका नाश हो जाता है और उसे शीघ्र ही परम शान्ति मिल जाती है, किंतु निष्काम विशुद्ध प्रेमभावसे निरन्तर भजन होना चाहिये।

श्रीभगवान् कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ९। ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

अनन्यभावसे भजन करनेवाले मनुष्यकी गीतामें भूरि-भूरि महिमा गायी गयी है। स्वयं भगवान् अपने भक्तकी सदा रक्षा करते हैं।

जो भगवान्‌पर निर्भर होकर नित्य-निरन्तर निष्कामभावसे भगवान्‌का स्मरण करता है, भगवान् उसकी रक्षा ही नहीं, उसका लौकिक, पारलौकिक सब प्रकारका भार वहन करते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(गीता ९। २२)

'जो अनन्य प्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं, उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ।'

सब प्रकारसे भगवान्‌पर निर्भर होकर सम्पूर्णभावसे भगवान्‌के शरण हो जाना भी भगवान्‌का भजन ही है। ऐसे भक्तको भगवान् परम शान्ति और परमपदकी प्राप्ति करा देते हैं। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(गीता १८। ६२)

'हे भारत! तू सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही शरणमें जा। उस परमात्माकी कृपासे ही तू परम शान्तिको तथा सनातन परम धामको प्राप्त होगा।'

इसलिये यह सिद्ध हुआ कि सब प्रकारसे भगवान्‌के शरण होना ही उनका असली भजन है; क्योंकि भगवान्‌ने अ० ९ श्लोक ३३ के उत्तरार्धमें अर्जुनसे **'मां भजस्व'** कहकर उसके पश्चात् सब प्रकारसे शरण होना ही भजनका स्वरूप बतलाया है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

(गीता ९। ३४)

'मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार आत्माको मुझमें लगाकर मेरे परायण हुआ तू मुझको ही प्राप्त होगा।'

शरणागत पुरुष चाहे जातिसे कैसा ही नीच क्यों न हो, उसको भी भगवान् परम गति दे देते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

(गीता ९। ३२)

'हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर परम गतिको ही प्राप्त होते हैं।'

जिस प्रकार भगवान्‌के शरण होना भगवान्‌का भजन बताया गया, इसी प्रकार भगवद्बुद्धिसे सबकी सेवा करना भी भजन ही है। चाहे साधक यह भाव रखकर सेवा करे कि 'ये सब भगवान्‌के हैं' अथवा 'सबमें भगवान् हैं' यों समझकर सेवा करे या चाहे 'सब भगवान् ही हैं' यह समझकर सेवा करे। यह सभी भगवान्‌का भजन है; क्योंकि भगवान् सारे भूतप्राणियोंके माता-पिता हैं, सब भूतप्राणी भगवान्‌से ही उत्पन्न होते हैं, भगवान् सबमें व्यापक हैं, भगवान् सबके आत्मा हैं, अतः सबकी सेवा ही भगवान्‌की सेवा है—ऐसा समझकर निष्काम प्रेमभावसे कर्तव्य मानकर सेवा करना भी भगवान्‌का भजन ही है। इसके फलस्वरूप साधकको निश्चय ही परम गतिकी प्राप्ति हो जाती है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(७।१९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष 'सब कुछ वासुदेव ही है'—इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८।४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

जैसे प्रज्वलित साकार अग्नि निराकार रूपसे आकाशकी भाँति सर्वत्र व्यापक है, वैसे ही भगवान् अवतारके समय, सब देशमें व्यापक रहते हुए ही प्रज्वलित अग्निकी भाँति प्रकट होते हैं। उन साकार भगवान्‌की श्रद्धा-प्रेमपूर्वक आदर-सत्कार, सेवा-पूजा करनेसे मनुष्यका शीघ्र ही उद्धार हो सकता है। प्रत्यक्षकी तो बात ही क्या है, उनकी अनुपस्थितिमें भी उनकी सेवा-पूजादि करनेसे परमपदकी प्राप्ति हो जाती है।

वाल्मीकीय रामायणमें बतलाया गया है कि जब भरतजी महाराज भरद्वाजजीके आश्रममें गये, तब वहाँ भरद्वाजजीने भरतजीके आतिथ्य-सत्कारमें सिद्धियोंसे राजमहलकी रचना करके भरतजीके लिये राजाओंके योग्य एक सिंहासनकी स्थापना की थी, किंतु भरतजी उस सिंहासनपर नहीं बैठे, बल्कि उसे साक्षात् भगवान् श्रीरामका सिंहासन

मानकर स्वयं मन्त्रीके स्थानपर स्थित हो रातभर चँवर डुलाते हुए ही भगवान्‌की सेवा-पूजा करते रहे—

तत्र राजासनं दिव्यं व्यजनं छत्रमेव च।
भरतो मन्त्रिभिः सार्धमभ्यवर्तत राजवत्॥
आसनं पूजयामास रामायाभिप्रणम्य च।
बालव्यजनमादाय न्यषीदत् सचिवासने॥

(वा० रा० अयोध्या० ९१। ३८-३९)

'भरतजीने वहाँ दिव्य राजसिंहासन, चँवर और छत्र भी देखे। तब उनमें राजा रामकी भावना करके मन्त्रियोंके साथ उन सबकी प्रदक्षिणा की। सिंहासनपर श्रीराम विराजमान हैं, ऐसा मानकर उन्होंने श्रीरामको प्रणाम किया और उस सिंहासनकी भी पूजा की। फिर अपने हाथमें चँवर लेकर वे मन्त्रीके आसनपर जा बैठे।'

जैसे भरतजी महाराजने भरद्वाजजीके आश्रमपर रात्रिमें भगवान्‌का मनसे ही आवाहन करके उनकी सेवा-पूजा की थी, इसी प्रकार अपने इष्टदेवका मनसे आवाहन करके उनकी श्रद्धाप्रेमपूर्वक सेवा-पूजा करनेसे अथवा भगवान्‌की मूर्ति या चित्रपटकी श्रद्धापूर्वक निष्काम प्रेमभावसे सेवा-पूजा करनेसे भगवान् प्रत्यक्ष प्रकट होकर उसकी सेवा-पूजा स्वीकार करते हैं। गीतामें भगवान्‌ने बतलाया है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

(९। २६)

'जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रेमसे खाता हूँ।'

भगवान् सब जगह आकाशसे भी बढ़कर व्यापक हैं, ऐसा कोई भी स्थान नहीं जहाँ भगवान् न हों—ऐसा समझकर जो श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे निरन्तर उनका भजन करता है, भगवान् उसको अपने हृदयमें बसा लेते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(गीता ९। २९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है; परंतु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।'

भगवान्‌की प्रीति या प्राप्तिके लिये जो कुछ भी कर्म किया जाय, वह भी प्रकारान्तरसे भगवान्‌का भजन ही है। इसलिये हमलोगोंको भगवान्‌की प्राप्तिके उद्देश्यसे या उनकी प्रीतिके उद्देश्यसे ही सारे कर्तव्य कर्म करने चाहिये। एवं सब पदार्थ भगवान्‌के हैं, भगवान् मेरे हैं, मैं भगवान्‌का हूँ, जो कुछ मेरेद्वारा हो रहा है, भगवान्‌की प्रेरणासे हो रहा है, भगवान् ही मुझसे करवा रहे हैं—ऐसा समझकर अपने-आपको और अपनेद्वारा होनेवाली सारी क्रियाओंको भगवान्‌के समर्पण कर देना चाहिये। यह भी भगवान्‌का भजन है। इससे स्वाभाविक ही भगवान्‌की स्मृति हर समय बनी रहती है और उस पुरुषको भगवान् प्राप्त हो जाते हैं। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

(गीता ९। २७-२८)

'हे अर्जुन ! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर। इस प्रकार जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्‌के अर्पण होते हैं—ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा।'

इसलिये मनुष्यको शरीर और संसारके विषयभोगोंसे ममता और प्रीति हटाकर भगवान्‌से ही ममता और प्रीति करनी चाहिये। संसारके सारे पदार्थ नाशवान्, क्षणभङ्गुर हैं। इनमें विवेकशील मनुष्य कभी रमण नहीं करते, अविवेकी मनुष्य ही रमण करते हैं। गीतामें भगवान्‌ने बताया है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(५।२२)

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन ! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।'

इसलिये हमलोग जिस कार्यके लिये आये हैं उसी कार्यमें अपना समय लगाना चाहिये। हमें यह मनुष्य-शरीर स्वाद-शौक, ऐश-आराम, विलासितारूप विषयभोगोंको भोगनेके लिये नहीं मिला है और न यह स्वर्गप्राप्तिके लिये ही मिला है; क्योंकि जो मनुष्य स्वर्गप्राप्तिके लिये देवादिपूजन और यज्ञादि करते हैं, उनको भी भगवान्‌ने गीतामें अपेक्षाकृत नीची श्रेणीके बताया है (देखिये अ० २ श्लो० ४१ से ४४; अ० ९ श्लो० २०-२१)। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह मनुष्य-

शरीर स्वर्गप्राप्तिके लिये नहीं मिला है, बल्कि आत्मोद्धारके लिये ही मिला है। जो मनुष्य अपने आत्माका उद्धार न करके विषयभोगोंमें ही अपने समयको नष्ट करता है, वह मूर्ख और निन्दाका पात्र है; क्योंकि वह अमृतके बदले विष ग्रहण कर रहा है। उसे आगे जाकर अपने कृत्यपर घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा। इसलिये समय रहते ही हमें चेतना चाहिये, नहीं तो हमारे लिये महान् हानि है। श्रीरामचरितमानसमें भगवान्‌के वचन हैं—

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥
एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई॥

जिस प्रकार रोगी सुखबुद्धिसे कुपथ्यका सेवन करता है; किंतु वास्तवमें वह उसके दुःखका ही कारण होता है, वैसे ही विषयभोगोंमें सुख समझकर उनका सेवन करना भी दुःखका ही कारण है। अतः हमलोगोंको विषयभोगोंसे तीव्र वैराग्य करना चाहिये। उनकी कभी भी इच्छा नहीं करनी चाहिये; क्योंकि इच्छा करनेमात्रसे कोई भी पदार्थ मिलता नहीं। संसारमें कोई भी मनुष्य दुःखकी इच्छा नहीं करता, सभी मनुष्य सुख चाहते हैं; किंतु सभीको दुःख भोगना पड़ता है। अन्य प्राणियोंकी तो बात ही क्या, महात्माको छोड़कर ऐसा कोई मनुष्य भी नहीं दिखलायी पड़ता जो सांसारिक दुःखसे दुःखी न हो। अतः कोई मनुष्य भोगोंकी अथवा भोगोंके साधनरूप धन-मक़ान आदि पदार्थोंकी इच्छा करता है तो इच्छा करनेसे वे मिलते नहीं। और पदार्थोंकी तो बात ही क्या, कोई मनुष्य मृत्युकी इच्छा करे तो इच्छा करनेसे वह मर

नहीं सकता और अधिक जीनेकी इच्छा करे तो वह इच्छानुसार जी नहीं सकता; क्योंकि होता वही है, जो प्रारब्धके अनुसार होनेवाला है। श्रीरामचरितमानसमें बतलाया गया है—

होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै साखा॥

जब सब कुछ भगवान्‌के विधानके अनुसार ही प्राप्त होता है तब फिर हमलोगोंको किसी भी सांसारिक पदार्थकी इच्छा करके अपना स्तर ही क्यों गिराना चाहिये? किसी भी सांसारिक पदार्थके लिये इच्छा करना महान् मूर्खता है। इसलिये सबकी इच्छाका त्याग करके केवल एक भगवान्‌की प्राप्तिकी ही इच्छा करनी चाहिये। इच्छा करनेसे केवल भगवान् ही मिलते हैं और कोई नहीं; क्योंकि जड पदार्थोंको तो हम ही चाहते हैं, वे हमको नहीं चाहते। किंतु भगवान् परम दिव्य, चिन्मय और सबके सुहृद्—बिना ही कारण दया-प्रेम करनेवाले हैं, इसलिये जो भगवान्‌को चाहते हैं, भगवान् भी उनको चाहते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४। ११ का पूर्वार्ध)

'हे अर्जुन! जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ।' भजनका कैसा अद्भुत माहात्म्य है कि भजनेवालेको भगवान् भी भजते हैं।

इतना ही नहीं, भगवान् उसको वह ज्ञान दे देते हैं, जिससे उसे भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(गीता १०। १०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

इसलिये सब प्रकारसे भगवान्‌के शरण होकर भगवान्‌की सेवा-पूजा-स्तुति-प्रार्थना-नमस्कार तथा भगवान्‌के नाम-रूपका स्मरणरूप भजन श्रद्धा-विश्वासपूर्वक निष्काम प्रेमभावसे सदा-सर्वदा करना चाहिये।

गीता पढ़नेके लाभ

श्रीमद्भगवद्गीता एक परम रहस्यमय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सार्वभौम ग्रन्थ है। यह साक्षात् भगवान्‌की दिव्य वाणी है, उनके हृदयका उद्गार है। इसका महत्त्व बतलानेकी वाणीमें शक्ति नहीं है। इसकी महिमा अपरिमित है, यथार्थमें इसका वर्णन कोई नहीं कर सकता। शेष, महेश, गणेश, दिनेश भी इसकी महिमाको पूरी तरहसे नहीं कह सकते, फिर मनुष्यकी तो बात ही क्या है। इतिहास-पुराण आदिमें जगह-जगह इसकी महिमा गायी गयी है, किंतु उन सबको एकत्र करनेपर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इसकी महिमा इतनी ही है; क्योंकि उसकी महिमाका कोई पार नहीं है।

गीता आनन्द-सुधाका सीमारहित छलकता हुआ समुद्र है। इसमें भावों और अर्थोंकी इतनी गम्भीरता और व्यापकता है कि मनुष्य जितनी ही बार इसमें डुबकी लगाता है, उतनी ही बार वह नित्य नवीन आनन्दको प्राप्तकर मुदित और मुग्ध होता है। रत्नाकर सागरमें डुबकी लगानेवाला चाहे रत्नोंसे वञ्चित रह जाय, पर इस दिव्य रसामृत-समुद्रमें

डुबकी लगानेवाला कभी खाली हाथ नहीं निकलता। इसकी सरस और सार्थ सुधा इतनी स्वादु है कि उसके ग्रहणसे नित्य नया स्वाद मिलता रहता है। रसिकशेखर श्यामसुन्दरकी इस रसीली वाणीमें इतनी मोहकता और इतना स्वाद भरा है कि जिसको एक बार इस अमृतकी बूँद प्राप्त हो गयी, उसकी रुचि उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है।

गीता एक सर्वमान्य और प्रमाणस्वरूप अलौकिक ग्रन्थ है। एक छोटे-से आकारमें इतना विशाल योग-भक्ति-ज्ञानसे पूर्ण ग्रन्थ संसारकी प्रचलित भाषाओंमें दूसरा कोई नहीं है। इसमें सम्पूर्ण वेदोंका सार संग्रह किया हुआ है। इसकी संस्कृत बहुत ही मधुर, सरस, सरल और रुचिकर है। इसकी भाषा बहुत ही उत्तम एवं रहस्ययुक्त है। दुनियाकी किसी भी भाषामें ऐसा सुबोध ग्रन्थ नहीं है। मनुष्य थोड़ा अभ्यास करनेसे भी सहज ही इसको समझ सकता है। परंतु इसका आशय इतना गूढ़ और गम्भीर है कि आजीवन निरन्तर अभ्यास करते रहनेपर भी उसका अन्त नहीं आता, वरं प्रतिदिन नये-नये भाव उत्पन्न होते रहते हैं; इससे वह सदा नवीन ही बना रहता है।

गीतामें सभी धर्मोंका सार भरा हुआ है। संसारमें जितने भी ग्रन्थ हैं, उनमें गीता-जैसे गूढ़ और उन्नत विचार कहीं दृष्टिगोचर नहीं होते। गीताके साथ तुलना की जाय तो उसके सामने जगत्का समस्त ज्ञान तुच्छ है। गीता वर्तमान समयमें भी शिक्षित, अशिक्षित भारतीय या भारतेतर सभी समुदायोंके लिये सर्वथा उपयुक्त ग्रन्थ है। गीता-जैसा अपूर्व उपदेश और विलक्षण एकता तथा समता कहीं नहीं दिखायी पड़ते। गागरमें सागरकी भाँति थोड़ेमें ही अनन्त तत्त्व-रहस्यसे भरा हुआ ग्रन्थ अन्य नहीं देखनेमें आता।

गीताका उपदेश बहुत ही उच्चकोटिका है। गीतामें सबसे ऊँचा

ज्ञान, सबसे ऊँची भक्ति और सबसे ऊँचा निष्कामभाव भरा हुआ है। गीताके उपदेशको देखकर मनुष्यके हृदयमें स्वाभाविक ही यह प्रभाव पड़ता है कि यह मनुष्यरचित नहीं है।

गीता एक उच्चकोटिका दर्शन-शास्त्र है। यह सिद्धान्त-रत्नोंका सागर है। इसके अध्ययनसे नित्य नये उच्चकोटिके भाव-रत्न प्राप्त होते रहते हैं। गीताका श्रद्धा-प्रेमपूर्वक गायन करनेसे इतना रस आता है कि उसके सामने सारे रस फीके हैं।

गीता मनुष्यको नीचे-से-नीचे स्थानसे उठाकर ऊँचे-से-ऊँचे परमपदपर आरूढ़ करानेवाला एक अद्भुत प्रभावशाली ग्रन्थ है। मनुष्य जब कभी किसी चिन्ता, संशय और शोकमें मग्न हो जाता है और उसे कोई रास्ता दिखायी नहीं पड़ता, उस समय गीताके श्लोकोंके अर्थ और भावपर लक्ष्य करनेसे वह निश्चिन्त, निःसंशय और शोकरहित होकर प्रसन्नता और शान्तिको प्राप्त हो जाता है।

गीतामें बहुत-से ऐसे श्लोक हैं, जिनमेंसे एक श्लोकका या उसके एक चरणका भी यदि मनुष्य अर्थ और भाव समझकर अध्ययन करे और उसके अनुसार अपना जीवन बना ले तो उसका निश्चय ही उद्धार हो सकता है। गीतामें मनुष्यमात्रका अधिकार है। भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं कहा है—

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥

(गीता ३।३१)

'जो कोई मनुष्य दोषदृष्टिसे रहित और श्रद्धायुक्त होकर मेरे इस सिद्धान्तका सदा अनुसरण करते हैं, वे भी सम्पूर्ण कर्मोंसे छूट जाते हैं।'

यहाँ भगवान्‌ने **'मानवाः'** कहकर यह स्पष्ट व्यक्त कर दिया है कि यह एक जातिविशेष या व्यक्तिविशेषके लिये ही नहीं है, इसमें मनुष्यमात्रका अधिकार है। प्रत्येक वर्ण, आश्रम, जाति, धर्म और समाजका मनुष्य इसका अध्ययन करके अपना कल्याण कर सकता है।

आध्यात्मिक दृष्टिसे सारी मानवजातिपर ही गीताका बहुत प्रभाव पड़ा है। भगवान् श्रीकृष्णका हिंदूजातिमें अवतार हुआ था, इसलिये लोग गीताको प्रायः हिंदुओंका ही धर्मग्रन्थ समझते हैं, पर वास्तवमें यह केवल हिंदुओंके ही लिये नहीं है, ईसाई, मुसलमान आदि सभी धर्मावलम्बियोंके लिये और धर्मको न माननेवालोंके लिये भी समानरूपसे कल्याणका मार्ग दिखानेवाला प्रकाशमय दिव्य सूर्य है। केवल भारतवासियोंके लिये ही नहीं, सम्पूर्ण पृथ्वीपर निवास करनेवाले सभी मनुष्योंके लिये भगवान् श्रीकृष्णने इस गीताका उपदेश किया है। मनुष्योंकी तो बात ही क्या है, देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस आदि जितने भी बुद्धियुक्त प्राणी हैं, उन सभीके लिये यह कल्याणमय भण्डार है।

कोई-कोई ऐसा कहते हैं कि गीता तो केवल संन्यासियोंके लिये है, किंतु ऐसा समझना गलत है; क्योंकि अर्जुनने कहा था कि गुरुजनोंको न मारकर मैं भिक्षाका अन्न खाना कल्याणकारक समझता हूँ (गीता २।५), किंतु भीख माँगकर खाना क्षत्रियका धर्म नहीं, संन्यासीका धर्म है। इससे सिद्ध हुआ कि अर्जुन गृहस्थाश्रमको छोड़कर—संन्यासाश्रम ग्रहण करके भीख माँगकर खाना अच्छा समझते थे, पर भगवान्‌ने उनकी इस समझकी निन्दा की और 'क्षत्रियके लिये धर्मयुद्धसे बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारी कर्तव्य नहीं है (गीता २।३१)' कहकर उन्हें धर्मयुद्धमें लगाया। अर्जुन गृहस्थी थे और गीताका उपदेश सुननेके बाद भी आजीवन गृहस्थी ही रहे। इससे गीता

केवल संन्यासियोंके ही लिये है—यह सिद्ध नहीं होता, बल्कि यही सिद्ध होता है कि गीता संन्यासी-गृहस्थी सभी मनुष्योंके लिये है।

अतः गीताशास्त्र सभीके लिये इस लोक और परलोकमें कल्याण करनेवाला होनेसे यह सबके लिये सर्वोत्तम परम धर्ममय ग्रन्थ है। इसलिये सभी मनुष्योंको गीताका अर्थ और भाव समझते हुए अध्ययन करना चाहिये। गीताके अध्ययनसे मनुष्यके शरीर, वाणी, मन और बुद्धिकी उन्नति होती है, इस लोकमें धन, जन, बल, मान और प्रतिष्ठाकी प्राप्ति एवं परलोकमें परम कल्याणमय परमात्माकी प्राप्ति होती है।

गीताके अध्ययन-अध्यापन और उसके अनुसार आचरण करनेसे अनेकों ऋषियोंको और अर्जुन, संजय आदि गृहस्थोंको उत्तम गति मिली। स्वामी श्रीशंकराचार्यजी, श्रीरामानुजाचार्यजी, श्रीज्ञानेश्वरजी आदि महानुभावोंको सर्वमान्य लौकिक, पारमार्थिक श्रेष्ठ पदकी प्राप्ति हुई एवं महात्मा गाँधी, लोकमान्य तिलक आदिको बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। अतः गीताके अध्ययन, अध्यापन और उसके अनुसार आचरण करनेसे मनुष्यको इस लोक और परलोकमें श्रेयकी प्राप्ति होती है।

कोई भी मनुष्य क्यों न हो, जिसकी ईश्वर-भक्तिमें और गीता-शास्त्रको सुननेमें रुचि है, वही इसका अधिकारी है। ऐसे अधिकारी मनुष्यको गीता सुनानेवाला मनुष्य मुक्त हो जाता है। वह ईश्वरका अत्यन्त प्यारा बन जाता है। भगवान्‌ने कहा है—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥

(गीता १८। ६८)

'जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीता-शास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मुझको ही प्राप्त होगा— इसमें

कोई संदेह नहीं है।'

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥

(गीता १८। ६९)

'उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है तथा पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्यमें होगा भी नहीं।'

अतः हमलोगोंको गीताशास्त्रका अध्ययन-अध्यापन श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक बहुत उत्साह और तत्परताके साथ करना चाहिये।

गीताके अध्ययन करनेका फल और महत्त्व वर्णन करते हुए स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥

(गीता १८। ७०)

'जो पुरुष इस धर्ममय, हम दोनोंके संवादरूप गीताशास्त्रको पढ़ेगा, उसके द्वारा भी मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित होऊँगा—ऐसी मेरी मान्यता है।'

अर्थ और भावको समझकर गीताका अभ्यास करनेपर अन्य शास्त्रोंके अध्ययनकी आवश्यकता नहीं रहती। श्रीवेदव्यासजीने कहा है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृता॥

(महा० भीष्म० ४३। १)

'गीताका ही भलीभाँति गान करना चाहिये अर्थात् उसीका भलीभाँति श्रवण, कीर्तन, पठन-पाठन, मनन और धारण करना चाहिये,

फिर अन्य शास्त्रोंके संग्रहकी क्या आवश्यकता है ? क्योंकि वह स्वयं पद्मनाभ भगवान्‌के साक्षात् मुखकमलसे निकली हुई है।'

यहाँ 'पद्मनाभ' शब्दका प्रयोग करके श्रीवेदव्यासजीने यह व्यक्त किया है कि यह गीता उन्हीं भगवान्‌के मुखकमलसे निकली है, जिनके नाभिकमलसे ब्रह्माजी प्रकट हुए और ब्रह्माजीके मुखसे वेद प्रकट हुए, जो सम्पूर्ण शास्त्रोंके मूल हैं। अतः संसारमें जितने भी शास्त्र हैं, उन सब शास्त्रोंका सार गीता है—**'सर्वशास्त्रमयी गीता'** (महा० भीष्म० ४३। २)। दुनियामें जो किसी भी धर्मको माननेवाले मनुष्य हैं, उन सभीको यह समानभावसे स्वधर्म पालनमें उत्साह दिलाती है, किसी धर्मकी निन्दा नहीं करती। इसमें कहीं किसी सम्प्रदायके प्रति पक्षपात नहीं है। गीता सारे उपनिषदोंका सार है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

'सम्पूर्ण उपनिषद् गौके समान हैं, गोपालनन्दन श्रीकृष्ण दूध दुहनेवाले हैं, कुन्तीपुत्र अर्जुन बछड़ा हैं, महत्त्वपूर्ण गीताका उपदेशामृत ही दूध है और सात्त्विक उत्तम बुद्धिवाले पुरुष ही उसके पीनेवाले हैं।'

गीता गङ्गासे भी बढ़कर है। शास्त्रोंमें गङ्गास्नानका फल मुक्ति बतलाया गया है। परंतु गङ्गामें स्नान करनेवाला स्वयं मुक्त हो सकता है, वह दूसरोंको संसार-सागरसे तारनेमें समर्थ नहीं है। किंतु गीतारूपी गङ्गामें गोते लगानेवाला स्वयं तो मुक्त होता ही है, वह दूसरोंको भी तार सकता है। गङ्गा तो भगवान्‌के चरणोंसे उत्पन्न हुई है, किंतु गीता साक्षात् भगवान्‌के मुखारविन्दसे निकली है। फिर गङ्गा तो जो उसमें जाकर स्नान करता है, उसीकी मुक्ति करती है; किंतु गीता तो घर-घरमें जाकर उन्हें मुक्तिका मार्ग दिखलाती है।

गीता गायत्रीसे भी बढ़कर है। गायत्री-जप करनेवाला भी स्वयं ही मुक्त होता है; पर गीताका अभ्यास करनेवाला तो तरन-तारन बन जाता है। मुक्तिका तो वह सदाव्रत खोल देता है।

गीताको स्वयं भगवान्‌से भी बढ़कर कहा जाय तो भी कोई अत्युक्ति नहीं होगी; क्योंकि स्वयं भगवान्‌ने कहा है—

गीताश्रयेऽहं तिष्ठामि गीता मे चोत्तमं गृहम्।
गीताज्ञानमुपाश्रित्य त्रींल्लोकान् पालयाम्यहम्॥

(वाराहपुराण)

'मैं गीताके आश्रयमें रहता हूँ, गीता मेरा उत्तम घर है, गीताके ज्ञानका सहारा लेकर ही मैं तीनों लोकोंका पालन करता हूँ।'

गीता ज्ञानका दिव्य सूर्य है। भक्तिरूपी मणिका भण्डार है। निष्काम-कर्मका अगाध सागर है। गीतामें ज्ञान, भक्ति और निष्काम-भावका तत्त्व-रहस्य जैसा बतलाया गया है, वैसा किसी ग्रन्थमें भी एकत्र नहीं मिलता।

आत्माके उद्धारके लिये तो गीता सर्वोपरि ग्रन्थ है ही, इसके सिवा, यह मनुष्यको सभी प्रकारकी उन्नतिका मार्ग दिखलानेवाला ग्रन्थ भी है। जैसे—

शरीरकी उन्नतिके लिये गीतामें सात्त्विक भोजन बतलाया गया है—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥

(१७।८)

'आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले, रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभावसे ही मनको

प्रिय—ऐसे आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं।'

भाव यह है कि इस प्रकारके सात्त्विक आहारके सेवनसे आयु, अन्तःकरण, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति बढ़ती है। किंतु इसके विपरीत, शरीरको हानि पहुँचानेवाले राजस-तामस भोजनका त्याग करनेके लिये निषेधरूपसे उनका वर्णन किया गया है (गीता १७। ९-१० में देखिये)।

उत्तम आचरणोंकी शिक्षाके लिये शारीरिक तप बतलाया गया है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥

(गीता १७। १४)

'देवता, ब्राह्मण, माता-पिता आदि गुरुजनों और ज्ञानीजनोंका पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शरीरसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

वाणीको संयत और उन्नत बनानेके लिये वाणीका तप बतलाया गया है—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥

(गीता १७। १५)

'जो उद्वेग न करनेवाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है तथा जो वेद-शास्त्रोंके पठनका एवं परमेश्वरके नामजपका अभ्यास है—वही वाणीसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

मनको उन्नत बनानेके लिये मानसिक तप बतलाया गया है—

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥

(गीता १७ । १६)

'मनकी प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवच्चिन्तन करनेका स्वभाव, मनका निग्रह और अन्तःकरणके भावोंकी भलीभाँति पवित्रता—इस प्रकार वह मनसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

इसी प्रकार बुद्धिको उन्नत बनानेके लिये सात्त्विक ज्ञान और सात्त्विकी बुद्धिका वर्णन किया गया है—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥

(गीता १८ । २०)

'जिस ज्ञानसे मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतोंमें एक अविनाशी परमात्मभावको विभागरहित समभावसे स्थित देखता है, उस ज्ञानको तो तू सात्त्विक जान।'

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥

(गीता १८ । ३०)

'हे पार्थ ! जो बुद्धि प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्गको, कर्तव्य और अकर्तव्यको, भय और अभयको तथा बन्धन और मोक्षको यथार्थ जानती है, वह बुद्धि सात्त्विकी है।'

इसके विपरीत, राजस-तामस ज्ञानका अ० १८ श्लो० २१-२२ में और राजसी-तामसी बुद्धिका अ० १८ श्लोक ३१-३२ में त्याग करनेके उद्देश्यसे वर्णन किया गया है।

दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन मनुष्यकी उन्नतिमें महान् हानिकर हैं, अतः उनको आसुरी सम्पदा बतलाकर उनका सर्वथा त्याग करनेके लिये कहा गया है (देखिये गीता० अ० १६ श्लो० ४ से २१ तक) ।

इसके सिवा, उन छब्बीस गुणों और आचरणोंको, जो मनुष्यकी उन्नतिमें मूल कारण हैं, सर्वथा उपादेय और मुक्तिके साधन बतलाकर उनका दैवीसम्पदाके नामसे वर्णन किया गया है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥

(गीता १६ । १-३)

'भयका सर्वथा अभाव, अन्तःकरणकी पूर्ण निर्मलता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति और सात्त्विक दान, इन्द्रियोंका दमन, भगवान्, देवता और गुरुजनोंकी पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मोंका आचरण एवं वेदादि शास्त्रोंका पठन-पाठन तथा भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन, स्वधर्मपालनके लिये कष्ट-सहन और शरीर तथा इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता, मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय-भाषण, अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रोधका न होना, कर्मोंमें स्वार्थ और कर्तापनके अभिमानका त्याग, अन्तःकरणकी उपरति अर्थात् चित्तकी चञ्चलताका अभाव, पर-निन्दा और परदोष-दर्शन न करना, सब भूत-प्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग

होनेपर भी उनमें आसक्तिका न होना, कोमलता, लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरणमें लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, शौचाचार-सदाचार एवं किसीमें भी शत्रुभावका न होना और अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव—ये सब अर्जुन! दैवी सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुए पुरुषके लक्षण हैं।'

न्याय प्राप्त होनेपर गीता युद्ध करेनकी भी आज्ञा देती है; किंतु राग-द्वेषसे रहित होकर समभावसे। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(गीता २।३८)

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान समझकर उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा, इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा।'

इसमें कैसी अद्भुत अलौकिक धीरता, वीरता, गम्भीरता और कुशलताका रहस्य भरा हुआ है!

फल, आसक्ति, अहंता, ममतासे रहित होकर संसारके हितके उद्देश्यसे कर्तव्य-कर्म करना गीताका उपदेश है। गीतामें बताये हुए ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग—सब साधनोंका प्रधान उद्देश्य यह है कि सबका परम हित हो। इस उद्देश्यसे स्वार्थ और अभिमानसे रहित होकर सम्पूर्ण प्राणियोंके साथ त्याग, समता और उदारतापूर्वक प्रेम और विनययुक्त व्यवहार करना चाहिये। उच्चकोटिके साधककी भी समता कसौटी है (देखिये गीता २।१५, ३८, ४८) एवं सिद्ध पुरुषकी भी कसौटी समता है (देखिये गीता ५।१८-१९; ६।७-९; १२।१८-१९; १४।२४-२५)। अतः सम्पूर्ण क्रियाओं, पदार्थों, भावों और प्राणियोंमें

समभाव रखना— यह गीताका प्रधान उपदेश है।

गीतामें सभी बातें युक्तियुक्त हैं। गीताका सिद्धान्त है कि न अधिक सोये, न अधिक जागे, न अधिक खाय और न लङ्घन ही करे अर्थात् सब कार्य युक्तियुक्त करे; क्योंकि उचित भोजन और शयन न करनेसे योगकी सिद्धि नहीं होती। इसीसे भगवान्‌ने कहा है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

(गीता ६। १७)

'दुःखोंका नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य आहार-विहार करनेवालेका, कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका और यथायोग्य सोने तथा जागनेवालेका ही सिद्ध होता है।'

गीतामें सात्त्विक, राजस, तामस क्रिया, भाव और पदार्थका वर्णन किया गया है। उनमें सात्त्विक धारण करनेके लिये और राजस-तामस त्याग करनेके लिये कहा गया है।

यद्यपि उत्तम आचरण और अन्तःकरणका उत्तम भाव—दोनोंको ही गीताने कल्याणका साधन माना है; किंतु प्रधानता भावको दी है।

इस प्रकार अनेक प्रकारके उत्तम-उत्तम रहस्ययुक्त एवं महत्त्वपूर्ण भाव गीतामें भरे हुए हैं। हमलोग धन्य हैं जो हमें अपने जीवनकालमें गीता-जैसा सर्वोत्तम ग्रन्थ देखने-सुनने और पढ़ने-पढ़ानेके लिये मिल रहा है। हमें इस सुअवसरसे लाभ उठाना चाहिये—गीताका तत्परताके साथ श्रद्धा-प्रेमपूर्वक अध्ययन करना चाहिये।

गीताका अध्ययन करनेवालेको चाहिये कि वह उसे बार-बार पढ़े, हृदयङ्गम करे और मनमें धारण करे एवं उसके प्रत्येक शब्दका इस प्रकार मनन करे कि वह उसके अन्तःकरणमें प्रवेश कर जाय।

भगवान्‌के शरण होकर इस प्रकार अध्ययन करनेसे भगवत्कृपासे गीताका अर्थ, भाव और तत्त्व-रहस्य सहज ही समझमें आ सकता है। फिर उसके विचार, गुण और कर्म स्वयमेव गीताके अनुसार ही होने लगते हैं। गीताके अनुसार आचरण हो जानेसे मनुष्यके गुण, आत्मबल, बुद्धि, तेज, ज्ञान, आयु और कीर्तिकी वृद्धि होती है, इतना ही नहीं, वह परमपदस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

सुखोंके भेद और यथार्थ सुखकी महत्ता

संसारमें प्रत्येक मनुष्य सुख चाहता है; पर असली सुख किसमें है, इसकी ओर ध्यान न देकर वह मिथ्या सुखमें ही लगा रहता है, जिससे उसे असली सुखकी प्राप्ति नहीं होती, बल्कि बार-बार दुःख ही प्राप्त होता रहता है। अतः मनुष्यको मिथ्या सुखका त्याग करके सच्चे सुखकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना चाहिये। भगवान्‌ने गीतामें अठारहवें अध्यायके ३६वेंसे ३९ वें तक चार श्लोकोंमें सुखके तीन भेद बतलाये हैं—सात्त्विक, राजस और तामस। इनमेंसे तामस और राजस सुख त्याग करनेके उद्देश्यसे और सात्त्विक सुख सेवन करनेके उद्देश्यसे बतलाया गया है। सात्त्विक सुख, सात्त्विक त्याग, सात्त्विक पदार्थ, सात्त्विक कर्म और सात्त्विक भावोंके सेवनका फल असली सुख है, जो तीनों गुणोंसे अतीत है, परमात्माका स्वरूप है और सब साधनोंका फल है। इसीकी प्राप्तिको परमपद, परमगति और मुक्तिकी प्राप्ति कहते हैं।

अब तामस, राजस और सात्त्विक सुखका क्रमशः प्रतिपादन किया जाता है—

१—तामस सुख

तामस सुख मनुष्यको मोहित करनेवाला और महान् हानिकर है, इसलिये उसका त्याग अवश्य ही कर देना चाहिये। तामस सुखका लक्षण भगवान्ने गीतामें इस प्रकार बतलाया है—

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥

(१८। ३९)

'जो सुख भोगकालमें तथा परिणाममें भी आत्माको मोहित करनेवाला है, वह निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न सुख तामस कहा गया है।'

निद्रासे उत्पन्न सुख तामस इसलिये है कि निद्रामें वृत्ति मोहित हो जाती है, इसमें मनुष्यको बाह्यज्ञान नहीं रहता। उस समय स्वप्नमें भी जो चिन्तन होता है, उसमें भी मनुष्य पराधीन रहता है। एवं अधिक सोनेसे ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग आदि किसी भी योगके साधनकी सिद्धि नहीं होती (गीता ६। १६), वरं इससे तमोगुण बढ़ता है; इसलिये निद्रासे उत्पन्न सुखको तामस बतलाया गया है।

आलस्यके कारण मनुष्य कर्तव्यकर्मोंको करनेमें विलम्ब कर देता है और अकर्मण्यतामें समयको व्यर्थ बिता देता है एवं कर्तव्य-कर्म करते समय भी मनुष्य तन्द्रामें मग्न रहता है। इससे कर्तव्य-कर्मकी हानि होती है, स्मरण-शक्ति भी कमजोर हो जाती है; मोह, अज्ञान और तमोगुण बढ़ते हैं। इसलिये आलस्यसे उत्पन्न सुखको तामस बतलाया गया है।

प्रमाद दो प्रकारका होता है—१-करनेयोग्य कर्मको न करना और २-न करनेयोग्यको करना। प्रमादी मनुष्य कहीं तो कर्तव्य-कर्मका त्याग

कर देता है, कहीं तिरस्कार कर देता है और कहीं अवहेलना कर देता है। इस तरह कर्तव्यच्युत होनेसे उसे परिणाममें नरककी प्राप्ति होती है तथा वह न करने योग्य (पाप) कर्म—शास्त्रनिषिद्ध कर्म तथा व्यर्थ-कर्मका सेवन करता है; इसलिये नरकमें जाता है।

झूठ-कपट, चोरी-बेईमानी, मांस-भक्षण आदिका सेवन, आत्म-हत्या या पर-हत्या करना, परस्त्रीगमन आदि दुराचार शास्त्रनिषिद्ध कर्म अर्थात् पापकर्म हैं। बीड़ी, सिगरेट, भाँग, तम्बाकू, गाँजा, शुल्फा आदि मादक वस्तुओंका सेवन तथा सिनेमा, थियेटर, नाटक आदि खेल-तमाशोंका देखना, चौपड़-ताश और शतरंज आदि खेलना, सभी दुर्व्यसनरूप व्यर्थ कर्म शरीरका प्रमाद है। दूसरोंकी निन्दा, चुगली, व्यर्थ वार्तालाप, मिथ्या भाषण और कठोर वचन—यह वाणीका प्रमाद है। क्रोध, मोह, मद, दम्भ, दर्प, दुराग्रह, नास्तिकता, क्रूरता, वैर आदि दुर्गुणोंको धारण करना तथा मनसे पापमय वासना और व्यर्थ चिन्तन करना—यह मनका प्रमाद है।

अतः तामस सुखके हेतुभूत निद्रा, आलस्य, प्रमाद तथा तामस भोजन (गीता १७। १०), तामस यज्ञ (गीता १७। १३), तामस तप (गीता १७। १९), तामस दान (गीता १७। २२), तामस कर्म (गीता १८। २५), तामस त्याग (गीता १८। ७), तामस ज्ञान (गीता १८। २२), तामसी बुद्धि (गीता १८। ३२) और तामसी धृति (गीता १८। ३५)—ये सभी तामस पदार्थ, तामसी क्रिया और तामस भाव आदि और अन्तमें मोह, अज्ञान और तमोगुणके उत्पादक, नरकदायक एवं महान् हानिकर होनेके कारण इनसे उत्पन्न सुख तामस है। अतः ये सर्वथा त्याज्य हैं।

विचार करके देखनेपर पता लगता है कि ये सभी वर्तमानमें और

परिणाममें दुःख ही देनेवाले हैं; किंतु अज्ञानसे इन दुःखप्रद पदार्थोंमें सुखबुद्धि होनेके कारण सुख प्रतीत होता है। अतः इनका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। केवल शरीर और इन्द्रियोंकी थकावट दूर करनेके लिये उनके विश्रामके लिये अधिक-से-अधिक छः घंटे सोना उपयोगी है। भगवान्‌ने बतलाया है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

(गीता ६। १७)

'यथायोग्य आहार-विहार करनेवालेका, कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका और यथायोग्य सोने तथा जागनेवालेका ही दुःखनाशक योग सिद्ध होता है।'

पर इस उचित शयनकालमें भी इतना सुधार कर लेना परम आवश्यक है कि मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ जो बहिर्मुख हो रही हैं, उनको अन्तर्मुख करके सोना चाहिये। अभिप्राय यह कि मनमें स्वाभाविक ही जो संसारके पदार्थोंके चिन्तनका प्रवाह चल रहा है, उसको भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव आदिके चिन्तनमें परिवर्तित करके शयन करना चाहिये। इससे वह शयनकाल भी साधनकालमें परिणत होकर ज्ञान-योग, भक्तियोग, कर्मयोग आदि साधनोंमें सहायक हो जाता है एवं छः घंटेका शयनकाल भी सार्थक बन जाता है।

२—राजस सुख

राजस सुख भी परिणाममें हानिकर है, इस कारण उसका भी अवश्य त्याग करना चाहिये। राजस सुखका लक्षण भगवान्‌ने इस प्रकार बतलाया है—

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्　　।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥

(गीता १८। ३८)

'जो सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है, वह पहले भोगकालमें अमृतके तुल्य प्रतीत होनेपर भी परिणाममें विषके तुल्य है; इसलिये वह सुख राजस कहा गया है।'

यह इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे होनेवाला सुख भी वास्तवमें दुःखरूप ही है। इसमें जो सुखबुद्धि है, वह अज्ञानके कारण ही है। महर्षि पतञ्जलिजीने इसको अविद्याका ही एक भेद बतलाया है—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।

(योगदर्शन २। ५)

'अनित्य, अपवित्र, दुःख और अनात्मामें क्रमशः नित्य, पवित्र, सुख और आत्मभावकी प्रतीति ही 'अविद्या' है।'

अतः संसारके भोगोंमें सुखबुद्धि करना दुःखमें ही सुखबुद्धि करना है और यह अज्ञान है; क्योंकि संसारके विषयभोग आरम्भमें सुखप्रद प्रतीत होते हैं, पर वास्तवमें उनमें सुख नहीं है। जैसे फतिंगोंको दीपककी लौमें आरम्भमें सुख प्रतीत होता है, परंतु वह अन्तमें महान् दुःखदायी है; क्योंकि जब दीपककी लौका स्पर्श करनेपर उनके पंख झुलस जाते हैं, तब वे तड़फ-तड़फकर मरते हैं। इसी प्रकार सभी इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे उत्पन्न राजस सुख आरम्भमें अमृतके समान दीखते हैं, पर परिणाममें वे विषके समान हैं।

अतएव राजस भोजन (गीता १७। ९)के पदार्थोंका, राजस यज्ञ (गीता १७। १२), राजस तप (गीता १७। १८), राजस दान (गीता १७। २१), राजस कर्म (गीता१८। २४) आदि फलेच्छासे युक्त

राजसी क्रियाओंका तथा राजस त्याग (गीता १८। ८), राजसी ज्ञान (गीता १८। २१), राजसी बुद्धि (गीता १८। ३१), राजसी धृति (गीता १८। ३४) एवं राग-द्वेष, काम, लोभ, मत्सरता, अहंकार, अभिमान, दम्भ, दर्प, मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी इच्छा, अपवित्रता, विषयचिन्तन, व्यर्थ आशा, भोगेच्छा, व्यर्थ मनोरथ और अन्याय-पूर्वक अर्थ-संग्रहकी इच्छा आदि राजस भावोंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

जो भी इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे उत्पन्न सुख है, वह सब देश, काल और वस्तुसे अल्प, क्षणिक, नाशवान्, अनित्य और असत् है। उदाहरणार्थ, जिह्वाके विषयपर विचार करें। जब हम किसी पदार्थको खाते हैं, तब उसमें जिह्वाको ही सुख मिलता है, कानको नहीं; इसलिये वह एकदेशीय होनेसे अल्प है तथा भोजनकालमें ही वह सुख मिलता है, अन्य समयमें नहीं; इसलिये वह एककालिक होनेसे अल्प है। एवं वह भोजन करनेका पदार्थ परिमित है, अतः वह वस्तुसे भी अल्प है और उस पदार्थका क्षय होता रहता है, अतः वह क्षणिक और अनित्य है; अन्तमें वह नष्ट हो जाता है, अतः नाशवान् है। जो अनित्य—नाशवान् है, वह असत् है। अर्थात् उसकी केवल प्रतीति ही होती है, वह वास्तवमें नहीं है; क्योंकि सत् होता तो उसका कभी अभाव नहीं होता। भगवान्‌ने कहा है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(गीता २। १६)

'असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्‌का अभाव नहीं होता; इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है।'

इसी प्रकार नेत्रके विषयरूपके सम्बन्धमें समझना चाहिये। जब हम किसी सुन्दरी स्त्री आदि दृश्यको देखते हैं तो उसमें नेत्रोंको ही सुख मिलता है, जिह्वाको नहीं; इसलिये वह एकदेशीय होनेसे अल्प है तथा देखनेके समय ही वह सुख मिलता है, अन्य समयमें नहीं; इसलिये वह एककालिक होनेसे अल्प है एवं वह दृश्य पदार्थ परिमित है, अतः वह वस्तु भी अल्प है और उस पदार्थका क्षय होता रहता है, अतः वह क्षणिक और अनित्य है। अन्तमें वह नष्ट हो जाता है, अतः नाशवान् है। जो अनित्य और नाशवान् है, वह असत् है।

इसी प्रकार खान-पान, भोग-विलास, ऐश-आराम, स्वाद-शौक, हँसी-मजाक, इत्र-फुलेल, नाच-गान, ताश-चौपड़, खेल-तमाशा, सिनेमा-थियेटर, सर्कस-क्लब आदि अन्यान्य विषयोंमें प्रतीत होनेवाले सभी सुख देश, काल, वस्तुसे अल्प, क्षणिक, नाशवान्, दुःखदायी, अनित्य और असत् हैं। इनमें केवल भोगकालमें ही सुख प्रतीत होता है, पर इनका परिणाम दुःखदायी और महान् हानिकर है। इसलिये इन विषयजन्य राजस सुखोंका भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

मनुष्यको अनुकूलतामें राग और प्रतिकूलतामें द्वेष स्वाभाविक ही होता है। वह जब किसीके साथ वैर-द्वेष करता है और उसकी क्रिया सफल हो जाती है, तब उसे सुख प्रतीत होता है। किंतु जब उसका वैरी या द्वेषी बदला लेता है, उसकी क्रियाका प्रतीकार करता है, तब उसे महान् दुःख होता है। क्योंकि जिस वस्तुमें राग होता है, उसकी प्राप्तिमें क्षणिक सुख होता है; किंतु उसके नाश, वियोग और अभावमें दुःख होता है। जो उसके संयोगमें सुख होता है, वह भी देश, काल, वस्तुसे अल्प, क्षणिक, नाशवान्, अनित्य और असत् है तथा परिणाममें दुःखदायी है, इसलिये सर्वथा त्याज्य है।

मनुष्य किसी स्त्री, पुत्र, धन, मकान, जीवन, आरोग्य, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदिकी इच्छा करता है; किंतु उसकी इच्छाके अनुसार ही इच्छित वस्तु प्राप्त हो जाय, ऐसी बात नहीं है। क्योंकि सभी सुन्दर और युवती स्त्री चाहते हैं, सभी सुपात्र, विद्वान् और सेवाभावसम्पन्न पुत्र चाहते हैं, सभी धन-मकान आदि सम्पत्ति चाहते हैं, सभी अधिक कालतक जीना चाहते हैं, सभी नीरोग रहना चाहते हैं, सभी मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी इच्छा करते हैं; पर ये सब सभीको इच्छानुसार प्राप्त नहीं होते, अतः इच्छा या कामना करनेमें दुःखके सिवा कोई लाभ नहीं है।

मनुष्य कामके वशीभूत होकर स्त्री-सहवास करता है तो उसे क्षणिक सुख मिलता है। पर उसके परिणामस्वरूप उसके बल, वीर्य, बुद्धि, तेज, आयु, आरोग्य और स्मरणशक्तिका विनाश होता है; अतः परिणाममें दुःखदायी ही है।

मनुष्य लोभके वशीभूत होकर झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, दगाबाजी और विश्वासघातपूर्वक व्यापार करता है; अन्यायपूर्वक रुपया बचानेके लिये आय-कर, बिक्री-कर, सम्पत्ति-कर, दान-कर, व्यय-कर, मृत्यु-कर आदि अनेक सरकारी करोंकी स्वयं या सरकारी अधिकारियोंसे मिलकर चोरी करता है; व्यापारमें तौल-माप और संख्यामें अधिक लेता और कम देता है; मुनाफा, आढ़त, दलाली, कमीशन, ब्याज, भाड़ा आदि ठहराकर—तय करके उससे अधिक लेता और कम देता है; रूई, पाट, सुपारी आदि वस्तुओंमें जल छिड़ककर उनका वजन बढ़ा देता है; जीरा, दाल आदिमें मिट्टी-कंकड़; घीमें वनस्पतितैल, दूधमें पानी, शुद्ध तैलमें ह्वाइट ऑयल आदि वस्तुओंको मिलाकर उनको दूषित कर देता है; बढ़िया वस्तु दिखाकर

घटिया देता है एवं अन्यान्य अन्यायपूर्ण उपायोंद्वारा रुपये एकत्र करता है। उसमें उसे आरम्भमें तो सुख प्रतीत होता है; पर अन्तमें इस लोकमें निन्दा, अपमान और बेइज्जती होती है तथा परलोकमें दुर्गतिरूप भयानक कष्ट प्राप्त होता है।

मनुष्य दूसरोंकी उन्नति देखकर डाह करता है, उनको नीचा दिखाने और नीचे गिरानेकी चेष्टा करता है, तब उसे कार्यकी सफलतामें सुख-सा प्रतीत होता है। पर जब उसकी चेष्टा व्यर्थ हो जाती है, तब उसके हृदयमें जलन पैदा हो जाती है। अतः उसका परिणाम भी दुःखदायी ही है।

इसी प्रकार जो नाम, जाति, देश, धन, विद्या, बल, आयु और श्रेष्ठता आदि किसी भी प्रकारका अभिमान या घमंड है, उसमें थोड़े कालके लिये ही सुख प्रतीत होता है; पर उसका फल दुःखदायक और नाशवान् है, अतः वह अनित्य और असत् है।

इसी तरह अन्य सभी राजस सुख, पदार्थों, क्रियाओं और भावोंके सम्बन्धमें समझ लेना चाहिये।

गीतामें भगवान्‌ने जहाँ-जहाँ राजस और तामस सुख, पदार्थ, क्रिया और भावोंका वर्णन किया है, वह उनका त्याग करानेके उद्देश्यसे ही किया है। अतः उन सबका त्याग कर देना चाहिये। एवं सात्त्विक सुख, पदार्थ, क्रिया और भाव मुक्तिमें सहायक और इहलोक तथा परलोकमें हितकारक होनेके कारण भगवान्‌ने उनका वर्णन ग्रहण करानेके उद्देश्यसे ही किया है।

३—सात्त्विक सुख

सात्त्विक सुखके लक्षण भगवान्‌ने इस प्रकार बतलाये हैं—

अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥

(गीता १८ । ३६-३७)

'जिस सुखमें साधक मनुष्य भजन, ध्यान, तीर्थ, व्रत, तप, उपवास, सेवा आदिके अभ्याससे सुखका अनुभव करता है और जिससे दुःखोंके अन्तको प्राप्त होता है, जो ऐसा सुख है, वह आरम्भकालमें यद्यपि विषके तुल्य प्रतीत होता है, परंतु परिणाममें अमृतके तुल्य है, इसलिये वह परमात्मविषयक बुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न होनेवाला सुख सात्त्विक कहा गया है।'

कर्मयोग, भक्तियोग या ज्ञानयोगके साधनसे मनुष्यको परमात्माकी प्राप्ति अवश्य हो जाती है। इसलिये इन साधनोंमेंसे किसी भी साधनका निष्कामभावसे तत्परताके साथ अभ्यास करना चाहिये; क्योंकि इन साधनोंके अनुसार भजन, ध्यान, यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, उपवास, सेवा आदिका अभ्यास करनेसे ही अन्तःकरण शुद्ध होकर सात्त्विक सुखकी प्राप्ति होती है और सात्त्विक सुखकी प्राप्ति होनेपर समस्त दुःखोंका अत्यन्त अभाव होकर परमात्मामें बुद्धि स्थिर हो जाती है, जिसके फलस्वरूप उसे परमानन्दस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। भगवान्‌ने कहा है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥

(गीता २ । ६४-६५)

'अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक तो अपने वशमें की हुई, राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नता (स्वच्छता) को प्राप्त होता है। अन्तःकरणकी प्रसन्नता होनेपर उसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्नचित्तवाले कर्मयोगीकी बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे हटकर एक परमात्मामें ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है।'

मनुष्यकी स्वाभाविक ही सांसारिक क्रियाओंमें और विषयभोग-रूप पदार्थोंमें आसक्ति रहती है; इस कारण सात्त्विक पदार्थों, सात्त्विक क्रियाओं और सात्त्विक भावोंके सेवनमें प्रथम कठिनता प्रतीत होती है, इसीलिये उसको आरम्भमें विषके समान बतलाया गया है। किंतु उन सात्त्विक पदार्थों, क्रियाओं और भावोंका सेवन करते-करते अन्तमें उससे अन्तःकरण शुद्ध होकर पूर्ण सात्त्विक सुख प्राप्त हो जाता है, इसलिये सात्त्विक सुखको अमृतके समान बतलाया गया है।

अतएव सात्त्विक भोजन (गीता १७। ८) के पदार्थोंका तथा सात्त्विक यज्ञ (गीता १७। ११), सात्त्विक तप (गीता १७। १४—१७), सात्त्विक दान (गीता १७। २०), सात्त्विक कर्म (गीता १८। २३) आदि सात्त्विक क्रियाओंका सम्पादन एवं सात्त्विक त्याग (गीता १८। ९), सात्त्विक ज्ञान (गीता १८। २०), सात्त्विकी बुद्धि (गीता १८। ३०), सात्त्विकी धृति (गीता १८। ३३) आदि सात्त्विक भावोंका सेवन करना चाहिये। इससे अन्तःकरणकी शुद्धि होकर सात्त्विक सुखकी प्राप्ति हो जाती है; फिर परमात्मामें बुद्धि स्थिर हो जाती है, जिसके फलस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। जैसे गीता अ० १३ श्लो० ७ से ११ तक वर्णित ज्ञानके साधन और अ० १६ श्लो० १से ३ तक वर्णित दैवी सम्पदाके गुण-आचरणोंका पालन

मुक्तिदायक है, उसी प्रकार सात्त्विक पदार्थों, क्रियाओं और भावोंका सेवन भी मुक्तिदायक है; अतः इनका सेवन करना परम आवश्यक है।

किंतु मनुष्यको इनका सेवन करते समय अपनेको कृतकृत्य नहीं मान लेना चाहिये और इनमें आसक्त भी नहीं होना चाहिये; क्योंकि इनसे उत्पन्न ज्ञान और सुखमें आसक्ति होनेपर आगे बढ़नेमें रुकावट हो सकती है। भगवान्‌ने भी अर्जुनसे कहा है—

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥

(गीता १४। ६)

'हे निष्पाप अर्जुन! उन तीनों गुणोंमें सत्त्वगुण तो निर्मल होनेके कारण प्रकाश करनेवाला और विकाररहित है। वह सुखके सम्बन्धसे और ज्ञानके सम्बन्धसे अर्थात् उसके अभिमानसे बाँधता है।'

अतः इस बातपर विशेष ध्यान रखना चाहिये कि सात्त्विक पदार्थों, सात्त्विक क्रियाओं और सात्त्विक भावोंका सेवन तो करें, परंतु सेवन करके अपनेमें सात्त्विकताका—अच्छेपनका अभिमान न करें।

उपर्युक्त तामस, राजस और सात्त्विक भावों आदिकी पहचानके लिये इनका परस्पर भेद समझना आवश्यक है। तमोगुणमें मोह और अज्ञान अधिक है, बुद्धिका प्रकाश बहुत ही कम है और उत्तम क्रियाका अभाव है; किंतु रजोगुणमें तमोगुणकी अपेक्षा मोह और अज्ञान कम है, बुद्धिका प्रकाश कुछ अधिक है और सकामभावसे उत्तम क्रियाओंका बाहुल्य है। इसलिये तमोगुणकी अपेक्षा रजोगुण श्रेष्ठ है। किंतु रजोगुणकी अपेक्षा सत्त्वगुण तो बहुत ही श्रेष्ठ है; क्योंकि उसमें मोह और अज्ञान लेशमात्र हैं, बुद्धिका अतिशय प्रकाश है और क्रिया उत्तम तथा निष्काम भावसे होती है।

अतएव जो पदार्थ, क्रिया अथवा भाव हिंसा, मोह और प्रमादसे युक्त हो तथा जिसका फल दुःख और अज्ञान हो, उसको तामस समझना चाहिये। जो पदार्थ, क्रिया अथवा भाव लोभ, स्वार्थ और आसक्तिसे युक्त हो तथा जिसका फल क्षणिक सुखकी प्राप्ति एवं अन्तिम परिणाम दुःख हो, उसको राजस समझना चाहिये। जो पदार्थ, क्रिया अथवा भाव स्वार्थ, आसक्ति और ममतासे युक्त न हो तथा जिसका अन्तिम फल परमात्माकी प्राप्ति हो, उसको सात्त्विक समझना चाहिये।

४—यथार्थ सुख

यद्यपि उपर्युक्त सात्त्विक सुख भी सत्त्वगुणसे सम्बन्ध रखनेवाला होनेके कारण असली सुखकी अपेक्षा अल्प, अनित्य और मायिक ही है, तथापि सात्त्विक पदार्थोंके सेवन, सात्त्विक क्रियाओंके आचरण और सात्त्विक भावोंके धारणको असली सुखकी प्राप्तिमें हेतु होनेके कारण 'कर्तव्य' बतलाया गया है; किंतु इनका सेवन करते समय उसमें रसास्वादका अनुभव करते हुए रमण नहीं करना चाहिये, प्रत्युत परमात्माकी प्राप्तिरूप असली सुखको लक्ष्यमें रखकर तथा स्वार्थ, आसक्ति और अभिमानसे रहित होकर साधन करते ही रहना चाहिये। इस प्रकार साधन करते-करते परमात्माकी प्राप्तिरूप असली सुख प्राप्त हो जाता है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥
बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥

(गीता ५। २०-२१)

'जो पुरुष प्रियको प्राप्त होकर हर्षित न हो और अप्रियको प्राप्त होकर उद्विग्न न हो, वह स्थिरबुद्धि, संशयरहित, ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मामें एकीभावसे नित्य स्थित है।'

'बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला साधक आत्मामें स्थिर जो ध्यानजनित सात्त्विक आनन्द है, उसको प्राप्त होता है; तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिन्नभावसे स्थित पुरुष अक्षय आनन्दका अनुभव करता है।'

यहाँ **'विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्'** में वर्णित 'सुख' 'ध्यानजनित सात्त्विक सुख'का वाचक है और **'सुखमक्षयमश्नुते'** में वर्णित सुख 'परमात्माकी प्राप्ति' रूप यथार्थ सुखका वाचक है; क्योंकि इसमें 'सुख'का विशेषण 'अक्षय' दिया गया है।

इसी प्रकार—

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥

(गीता ५। २४)

'जो पुरुष आत्मामें ही सुखवाला है, आत्मामें ही रमण करनेवाला है तथा जो आत्मामें ही ज्ञानवाला है, वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त सांख्ययोगी शान्त ब्रह्मको प्राप्त होता है।'

इस श्लोकमें आत्मामें सुखवाले योगीको निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति होनेका वर्णन है, इसलिये यह सुख साधनकालका होनेसे सात्त्विक है। किंतु निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति ही यथार्थ सुख है।

तथा—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥

(गीता ३। १७)

'परंतु जो मनुष्य आत्मामें ही रमण करनेवाला और आत्मामें ही तृप्त तथा आत्मामें ही संतुष्ट हो, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है।'

इस श्लोकमें आत्मसंतुष्ट पुरुषके लिये कर्तव्यका अभाव बतलाया गया है, इसलिये यह 'आत्म-संतुष्टिरूप' सुख 'परमात्मप्राप्ति' रूप सुख है।

एवं—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

(गीता ६। २१-२२)

'इन्द्रियोंसे अतीत, केवल शुद्ध हुई स्थिर, सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा ग्रहण करनेयोग्य जो अनन्त आनन्द है, उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित यह योगी परमात्माके स्वरूपसे विचलित होता ही नहीं तथा परमात्माकी प्राप्तिरूप जिस लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता और परमात्म-प्राप्तिरूप जिस अवस्थामें स्थित योगी बड़े भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता (उसको जानना चाहिये)।'

यहाँ बतलाया हुआ सुख परमात्माकी प्राप्तिरूप सुख है; क्योंकि इसका विशेषण 'आत्यन्तिक' दिया गया है और यह कहा गया है कि ऐसे सुखको प्राप्त पुरुष भारी दुःख प्राप्त होनेपर भी उस परमात्मप्राप्तिरूप सुखसे विचलित नहीं होता।

इसी प्रकार भगवान्‌ने गीता अध्याय ६ श्लोक २७-२८ में बतलाया है—

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥

'क्योंकि जिसका मन भली प्रकार शान्त है, जो पापसे रहित है और जिसका रजोगुण शान्त हो गया है, ऐसे इस सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके साथ एकीभाव हुए योगीको उत्तम आनन्द प्राप्त होता है। वह पापरहित योगी इस प्रकार निरन्तर आत्माको परमात्मामें लगाता हुआ सुखपूर्वक परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप अनन्त आनन्दका अनुभव करता है।'

यहाँ २७ वें श्लोकमें सुखका 'उत्तम' विशेषण और २८ वेंमें 'अत्यन्त' तथा 'ब्रह्मसंस्पर्श' विशेषण दिया गया है, अतः यह परमात्माकी प्राप्तिरूप सुख है।

इसी प्रकार भगवान्‌ने जो यह कहा है—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥

(गीता १४। २७)

'क्योंकि उस अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्य-धर्मका और अखण्ड एकरस आनन्दका आश्रय मैं हूँ।'

इसमें 'सुख' का विशेषण 'ऐकान्तिक' दिया गया है, अतः यह भी परमात्मस्वरूप सुख है।

इसी यथार्थ सुखस्वरूप परमात्माकी प्राप्तिको गीतामें कहीं 'ब्रह्म-निर्वाण' (गीता ५। २४), कहीं 'निर्वाणपरमा शान्ति' (गीता ६। १५), कहीं 'परम गति' (गीता ८। १३), कहीं 'अमृत' (गीता १३। १२), कहीं 'अव्यय पद' (गीता १५। ५), कहीं 'परमधाम' (गीता १५। ६), कहीं 'संसिद्धि' (गीता १८। ४५), कहीं 'परम शान्ति' और 'शाश्वत स्थान' (गीता १८। ६२) आदि नामोंसे कहा गया है।

अतएव मनुष्यजीवनका समय बहुत ही अमूल्य और क्षणिक है—यों समझकर, ममता-आसक्ति और अभिमानको छोड़कर विवेक-वैराग्ययुक्त चित्तसे उपर्युक्त यथार्थ सुखकी प्राप्तिके उद्देश्यसे मनुष्यको शास्त्रोंमें वर्णित ज्ञानयोग (गीता १८। ५१-५५), भक्तियोग (गीता ११। ५४-५५), कर्मयोग (गीता २। ४७-५१), और अष्टाङ्गयोग (गीता ५। २७-२८) आदि अनेक साधनोंमेंसे किसीका भी अनुष्ठान करनेके लिये कटिबद्ध होकर तत्परतापूर्वक प्राणपर्यन्त शीघ्रातिशीघ्र प्रयत्न करना चाहिये।

परमानन्दस्वरूप निरतिशय असली सुखकी प्राप्तिके साधन

सांख्यशास्त्रमें आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक दुःखोंके अभावको मुक्ति कहा गया है। मनुष्य, पशु-पक्षी आदि प्राणियोंके द्वारा जो दुःख प्राप्त होता है, उसे आधिभौतिक दुःख कहते हैं तथा सूर्य, चन्द्रमा, वायु, अग्नि, जल आदि देवताओंके द्वारा जो दुःख प्राप्त होता है, वह आधिदैविक दुःख है एवं जो आधि (मानसिक पीड़ा) और व्याधि (शारीरिक पीड़ा) प्राप्त होती है, उसे आध्यात्मिक दुःख कहते हैं। सांख्यशास्त्रमें इन सब दुःखोंके अत्यन्त अभावको ही मुक्ति बताया गया है; किंतु गीतामें इन समस्त दुःखोंके आत्यन्तिक अभावके साथ ही परमात्माकी प्राप्तिरूप अनन्त नित्य आनन्दकी उपलब्धि होना ही मुक्ति माना गया है और उसीको परम शान्तिकी प्राप्ति, परम आनन्दकी प्राप्ति, निर्वाणब्रह्मकी प्राप्ति, परमपदकी प्राप्ति, परमगतिकी प्राप्ति आदि अनेक नामोंसे कहा गया है। गीतोक्त मुक्तिमें

सम्पूर्ण दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन और दुःखोंका अत्यन्त अभाव स्वाभाविक ही है।

हमलोग ध्यान देकर देखें तो मालूम होगा कि संसारमें आज जो बड़े-बड़े नेता, पण्डित, विद्वान्, राजा-महाराजा एवं पदाधिकारी आदि महान् व्यक्ति कहे जाते हैं, वे चाहे स्त्री हों या पुरुष, प्रायः सभी उपर्युक्त आधि-व्याधि आदि दुःखोंसे दुःखी हैं। इसलिये हमें उस सुखकी खोज करनी चाहिये, जिसकी प्राप्ति होनेपर समस्त दुःखोंका अत्यन्त अभाव होकर परम शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति सदाके लिये हो जाय। जिस आनन्दकी कहीं सीमा ही नहीं है, जो सदा-सर्वदा एकरस विद्यमान रहता है, जिसका कभी अभाव नहीं होता, जिसकी प्राप्ति सुगम है और जिसमें मनुष्यमात्रका अधिकार है, वह सुख परमात्माकी प्राप्ति ही है। परमात्मा तो सब प्राणिमात्रके परम सुहृद् हैं। उनके लिये सब समान हैं; फिर हमलोग उनसे वञ्चित क्यों रहें ?

खोज करनेपर यही पता लगता है कि परमात्मा ही एक ऐसी वस्तु है, जिसकी प्राप्ति होनेपर सारे दुर्गुण-दुराचार, दुर्व्यसन और दुःखोंका नाश होकर सदाके लिये परम शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति अपने-आप ही हो जाती है। इससे उसमें सद्गुण-सदाचार स्वाभाविक ही आ जाते हैं। विज्ञानानन्दघन परमात्मा अनन्त हैं। यह सारा ब्रह्माण्ड उन परमात्माके एक अंशमें है।

इस संसारमें जो सुख प्रतीत हो रहा है, वह असली सुखके एक अंशका प्रतिबिम्बमात्र है। जैसे असीम-अनन्त आकाशमें एक तारा उस आकाशके एक अंशमें ही है, उसी प्रकार सारा ब्रह्माण्ड परमात्माके एक अंशमें है। अतः उन आकाशस्थानीय अनन्त विज्ञानानन्दघन परमात्माकी तुलनामें सारे ब्रह्माण्डका सुख एक तारेकी तरह तुच्छ है। परमात्माका स्वरूपभूत सुख तो नित्य, सत्य और चिन्मय है, किंतु

संसारका सुख क्षणिक और नाशवान् होनेसे अल्प, मिथ्या और जड है। भगवान्‌ने कहा है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।

(गीता २। १६ का पूर्वार्ध)

'असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्‌का अभाव नहीं है।' जो जाननेमें आता है वह जड है और जो जाननेवाला है वह चेतन है। यह दृश्य संसार जाननेमें आता है, इसलिये जड है और परमात्मा द्रष्टा, साक्षी, ज्ञाता होनेसे चेतन है। अतः उन अनन्त चेतन आनन्दराशि परमात्माकी अवहेलना करके संसारके नाशवान् क्षणभङ्गुर सुखके लिये भटकते रहना बड़े दुःख और लज्जाकी बात है।

मनुष्य ही नहीं, संसारके सभी प्राणी सुख चाहते हैं और दुःख कोई भी किंचिन्मात्र भी नहीं चाहता, किंतु जिससे वास्तविक अनन्त सुख मिलता है, उसकी प्राप्तिके लिये प्रायः लोग प्रयत्न नहीं करते।

हमलोगोंकी बुद्धिमें जो सुख प्रतीत होता है, वह असली सुखके एक अंशका प्रतिबिम्बमात्र है। जैसे एक दर्पणमें अनन्त आकाशका एक अंशमात्र ही दिखलायी पड़ता है, पर वह वास्तवमें आकाश नहीं, आकाशका प्रतिबिम्बमात्र है। प्रथम तो आकाशका प्रतिबिम्ब पड़ता ही नहीं; क्योंकि वह निराकार है। इसके सिवा दर्पणमें जो प्रतिबिम्ब-सा दिखलायी देता है, वह भी सारे आकाशका नहीं, जो आकाश दर्पणके सम्मुख है उस आकाशके किसी एक अंशका ही वह प्रतिबिम्ब है। सारे आकाशका तो प्रतिबिम्ब ही दर्पणमें नहीं आ सकता; क्योंकि आकाश सब ओर है और दर्पण एक ओर है। इसी प्रकार परमात्मा अनन्त, सर्वव्यापी, चिन्मय तथा निर्गुण-निराकार है और बुद्धि जड, अल्प और एकदेशीय है। अतः बुद्धिरूप दर्पणमें प्रतीत होनेवाला सुख

परमात्मसुखके किसी एक अंशका ही प्रतिबिम्ब है। इस कारण वह अल्प, एकदेशीय, क्षणिक और नाशवान् होनेसे असत् है।

इस प्रकार समझकर मनुष्यको वास्तविक सच्चे सुखकी खोज करनी चाहिये। उस सच्चे सुखकी प्राप्तिके लिये गीतामें बहुत-से श्लोक कहे गये हैं। उनमेंसे मनुष्य एक श्लोकको भी धारण कर ले तो उसका सहज ही कल्याण हो सकता है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

(६।२१-२२)

'इन्द्रियोंसे अतीत केवल शुद्ध हुई स्थिर, सूक्ष्म बुद्धिद्वारा ग्रहण करने योग्य जो अनन्त आनन्द है, उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित यह योगी परमात्माके स्वरूपसे विचलित होता ही नहीं एवं परमात्माकी प्राप्तिरूप जिस लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता और परमात्म-प्राप्तिरूप जिस अवस्थामें स्थित योगी बड़े भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता (उसको जानना चाहिये)।'

अभिप्राय यह है कि वह परमात्मसुख अनन्त, असीम और अपरिमित है। वह सूक्ष्म बुद्धिद्वारा ग्राह्य (अनुभव करने योग्य) है, वहाँ मन-इन्द्रियोंकी पहुँच नहीं है। श्रुतिने भी उसकी महिमामें कहा है—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन॥

(तैत्तिरीयोपनिषद् २।४।१)

'जहाँसे मनसहित वाणी आदि इन्द्रियाँ उसे न पाकर लौट आती हैं, उस परब्रह्मके आनन्दको जाननेवाला पुरुष कभी भय नहीं करता।'

उसका अनुभव होनेपर फिर योगी उससे विचलित नहीं होता, निरन्तर उसीमें रहता है तथा उससे बढ़कर और कुछ भी नहीं समझता। यही नहीं, यदि उसके मन-बुद्धि-शरीरपर भारी-से-भारी संकट प्राप्त हो जायँ तो भी वे उसको विचलित नहीं कर सकते। वहाँ दुःखोंका सर्वथा अत्यन्त अभाव हो जाता है (गीता ६। २३)।

संसारी मनुष्य कभी सांसारिक सुखोंसे अघाता नहीं; किंतु मनुष्यको जब उस परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है, तब सांसारिक सुख उसके सामने नगण्य हो जाते हैं; क्योंकि उससे बढ़कर संसारमें कोई सुख ही नहीं है। जब मनुष्यको ऐसे अनुपम सुखकी प्राप्ति हो जाती है, तब फिर जो दुःख ही सुखरूपमें दिखलायी पड़ रहा है, उस सांसारिक सुखकी ओर उसकी वृत्ति ही कैसे जा सकती है ?

जिसे बड़े-से-बड़ा भी सांसारिक सुख प्राप्त है, उसे भी जब बड़ा भारी दुःख प्राप्त होता है, तब वह उस सुखको भूल जाता है और उसका जीवन दुःखमय हो जाता है। सुखकी मात्राका माप करनेके लिये दुःख ही कसौटी है। चाहे कोई सांसारिक सुखसे कितना ही सुखी क्यों न हो, अत्यन्त दुःखकी प्राप्ति होनेपर वह विचलित हो ही जाता है, किंतु परमात्माकी प्राप्तिरूप सुखमें स्थित हुआ पुरुष भारी-से-भारी दुःखकी प्राप्ति होनेपर भी विचलित नहीं होता। चाहे उसे कोई आगमें जला दे, शस्त्रोंसे उसके टुकड़े-टुकड़े कर दे, उसकी सारी सम्पत्तिमें आग लग जाय या सारे कुटुम्ब और सारी सम्पत्तिका समूल नाश हो जाय, तो भी वह मनुष्य न तो विचलित होता है और न उसके चित्तमें कोई विकार पैदा होता है (गीता ६। २२)।

संसारमें जो सुख प्रतीत होता है, वह उस आनन्दमय परमात्मासे ही होता है और वह भी परमात्माके किसी एक अंशका ही प्रतिबिम्ब है। प्रतिबिम्ब होनेके कारण ही वह नित्य स्थित नहीं रहता। इसलिये वह असत् है। उसकी जो प्रतीति होती है, वह अविद्यासे होती है। महर्षि पतञ्जलिजीने बतलाया है—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु
नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।

(योग० साधन० ५)

'अनित्य, अपवित्र, दुःख और अनात्मामें क्रमशः नित्य, पवित्र, सुख और आत्मभावकी प्रतीति ही अविद्या है।'

भाव यह है कि सम्पूर्ण दृश्य पदार्थ अनित्य हैं। उनमें नित्य बुद्धि होना, यह देह मांस-मज्जादि अपवित्र वस्तुओंका संघात है, इसमें पवित्र बुद्धि होना, संसारके समस्त विषयभोग दुःखरूप हैं, उनमें सुखबुद्धि होना और यह जड शरीर अनात्मा है, इसमें आत्मबुद्धि होना—यह अविद्या है।

अतः जिसको लोग दुःख समझते हैं, वह तो दुःख है ही, किंतु जो मोह-मायामें फँसे हुए मूर्खोंकी दृष्टिमें सुखके रूपमें प्रतीत हो रहा है, वह भी वस्तुतः दुःख ही है। महर्षि पतञ्जलिजी कहते हैं—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।

(योग० साधन० १५)

'परिणामदुःख, तापदुःख और संस्कारदुःख सबमें विद्यमान रहनेके कारण और तीनों गुणोंकी वृत्तियोंमें परस्पर विरोध होनेके कारण विवेकीके लिये तो सब-के-सब विषयजन्य सुख भी दुःखरूप ही हैं।'

परिणामदुःख

जो शुभ कर्मोंका फल भोगकालमें स्थूल दृष्टिसे सुखप्रद प्रतीत होता है, उसका भी परिणाम (नतीजा) दुःख ही है तथा भोगोंको भोगते-भोगते मनुष्य थक जाता है, उन्हें भोगनेकी शक्ति उसमें नहीं रहती, परंतु तृष्णा बनी रहती है, इससे वह भोगरूप सुख भी दुःख ही है। यह भोगके अन्तमें अनुभव होनेवाला दुःख भी परिणाम-दुःखकी ही गणनामें है। इन्द्रियों और पदार्थोंके सम्बन्धसे जब मनुष्यको किसी भी प्रकारके भोगमें सुखकी प्रतीति होती है, तब उसमें राग—आसक्ति अवश्य हो जाती है। इसलिये वह सुख रागरूप क्लेशसे मिला हुआ है। आसक्तिवश मनुष्य उस भोगकी प्राप्तिके लिये कर्म आरम्भ भी करता ही है। उसकी प्राप्तिमें असमर्थ होनेसे या विघ्न होनेसे द्वेष होना भी अवश्यम्भावी है। इसके सिवा, प्राणियोंकी हिंसाके बिना भोगकी सिद्धि भी नहीं होती, अतः राग-द्वेष और हिंसादिका परिणाम अवश्य ही दुःखदायी है। इसलिये यह भी परिणामदुःख है।

तापदुःख

सभी प्रकारके भोगरूप सुख विनाशशील हैं, उनसे वियोग होना निश्चित है। अतः भोगकालमें उनके विनाशकी सम्भावनासे तापदुःख बना रहता है। इसी तरह मनुष्यको जो सुखकारक भोग प्राप्त होते हैं, वे परिमित होते हैं तथा उसे जो कुछ प्राप्त है उससे बढ़कर दूसरोंको भी प्राप्त है, यह देखकर वह ईर्ष्यासे जलता रहता है, यह भी तापदुःख है एवं भोगकी अपूर्णतासे भी भोगकालमें संताप बना रहता है, यह भी तापदुःख है।

संस्कारदुःख

जिसे वर्तमानमें स्त्री-स्वामी, पुत्र-परिवार, धन-मानादि जो विषय

प्राप्त हैं, उनके संस्कार उसके हृदयमें अङ्कित हो चुके हैं, इसलिये उनके समाप्त होनेपर संस्कारके कारण उन वस्तुओंका अभाव महान् दुःखदायी होता है। वह उनको बारम्बार याद करके रोता रहता है कि मैं कैसा था, मेरा पुत्र सुन्दर सुडौल और आज्ञाकारी था, मेरी स्त्री कितनी सुशीला थी, मेरे स्वामीसे मुझे कितना सुख मिलता था, मेरी बड़ाई जगत्भरमें छा रही थी, मेरे पास लाखों रुपये थे, परंतु मैं आज क्या-से-क्या हो गया। मैं सब तरहसे दीन-हीन हो गया। यद्यपि उसके समान जगत्में लाखों-करोड़ों मनुष्य आरम्भसे ही इन विषयोंसे रहित हैं, परंतु वे ऐसे दुःखी नहीं हैं। जिसके विषय-भोगोंकी बहुलताके समय सुखोंके संस्कार होते हैं, उसे ही उनके अभावकी प्रतीति विशेष होती है। अभावकी प्रतीतिमें दुःख भरा हुआ है, यही संस्कारदुःख है। ।

गुणवृत्तिविरोधजन्य दुःख

किसी मनुष्यको जब कुछ झूठ बोलनेसे या छल-कपट करनेसे धन मिलनेकी सम्भावना होती है, तब उसकी सात्त्विक वृत्ति कहती है—'पाप करके धन नहीं कमाना चाहिये। भीख माँगना या मर जाना अच्छा है, परंतु पाप करना उचित नहीं।' उधर लोभमूलक राजसी वृत्ति कहती है—'क्या हर्ज है, एक बार तनिक-सी झूठ बोलनेमें आपत्ति ही कौन-सी है; जरासे छल-कपटसे क्या होगा? एक बार ऐसा करके रुपये कमाकर दरिद्रता मिटा लें, भविष्यमें ऐसी भूल नहीं करेंगे।' यों सात्त्विकी और राजसी वृत्तिमें महान् युद्ध-सा मच जाता है—इस झगड़ेमें चित्त अत्यन्त व्याकुल और किंकर्तव्यविमूढ़ हो उठता है तथा चिन्ता और उद्वेगका पार नहीं रहता।

इसी तरह राजसी और तामसी वृत्तियोंका परस्पर झगड़ा होता है। एक मनुष्य शतरंज, चौपड़ या ताश खेल रहा है। उधर उसके समयपर

न पहुँचनेपर घरका काम बिगड़ रहा है। कर्ममें प्रवृत्त करानेवाली राजसी वृत्ति कहती है—'उठो चलो, हर्ज हो रहा है, घरका काम करो।' इधर प्रमादरूपा तामसी वृत्ति पुनः-पुनः उसे खेलकी ओर खींचती है, वह बेचारा इस दुविधामें पड़कर महान् दुःखी हो जाता है। यह तीनों गुणोंकी वृत्तियोंमें परस्पर विरोध होनेसे उत्पन्न हुआ दुःख है।

भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(५।२२)

'ये जो इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान्, विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।'

इससे यह सिद्ध हो गया कि संसारमें जो सुख प्रतीत हो रहा है वह वास्तवमें सुख तो है नहीं, सुखका प्रतिबिम्बमात्र है, यदि कदाचित् उसे सुख मानें तो वास्तवमें वह दुःखका ही हेतु (कारण) है, अतः वह दुःख ही है।

इन सब बातोंको विचारकर इन सांसारिक सुखोंको दुःखरूप और नाशवान् समझकर विवेक-वैराग्यके द्वारा ठुकरा देना चाहिये एवं जो नित्य परम आनन्द है, जहाँ दुःखोंका अत्यन्त अभाव है, उस परमात्माकी प्राप्तिरूप योगका तेजीके साथ साधन करना चाहिये। भगवान्‌ने गीतामें बतलाया है—

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥

(६।२३)

'जो दुःखरूप संसारके संयोगसे रहित है तथा जिसका नाम योग है उसको जानना चाहिये। वह योग धैर्य और उत्साहपूर्वक वैराग्ययुक्त चित्तसे निश्चयपूर्वक करना कर्तव्य है।'

उस परमात्मसाक्षात्काररूप योगकी प्राप्तिका साधन भगवान्‌ने यों बतलाया है—

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥
शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्॥

(गीता ६। २४-२५)

'संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंको निःशेषरूपसे त्यागकर और मनके द्वारा इन्द्रियोंके समुदायको सभी ओरसे भलीभाँति रोककर क्रम-क्रमसे अभ्यास करता हुआ उपरतिको प्राप्त हो तथा सात्त्विक धृतिसे युक्त बुद्धिके द्वारा मनको परमात्मामें स्थित करके परमात्माके सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे।'

उपर्युक्त साधनमें प्रधान अभ्यास और वैराग्य है। इसलिये वैराग्यपूर्वक अभ्यास करना चाहिये; क्योंकि वैराग्यपूर्वक अभ्याससे ही चित्तका निरोध होता है—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।
अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः॥

(योग० समाधि० १२-१२)

'चित्तवृत्तियोंके निरोधका नाम योग है', 'अभ्यास और वैराग्यसे उन चित्तवृत्तियोंका निरोध होता है।'

अतः मनुष्यको गीता अ० ६ श्लोक २४ से २६ के अनुसार

अभ्यास और अ० ५ श्लोक २२ के अनुसार वैराग्यके लिये प्रयत्न करना चाहिये। मनको वशमें करनेका उपाय भी अभ्यास और वैराग्य है।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

(गीता ६। ३५ का उत्तरार्ध)

'अर्जुन! यह मन अभ्यास और वैराग्यसे वशमें होता है।' मन वशमें हुए बिना उस नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्माकी प्राप्तिरूप योगकी सिद्धि कठिन है—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।

(गीता ६। ३६का पूर्वार्ध)

'जिसका मन वशमें किया हुआ नहीं है वैसे पुरुषद्वारा योग दुष्प्राप्य है।' अतः परमात्माकी प्राप्ति वैराग्यपूर्वक तीव्र अभ्याससे होती है, इसलिये मनुष्यको परमात्माकी प्राप्तिरूप उस असली सुखकी प्राप्तिके लिये विवेक-वैराग्यपूर्वक तीव्र अभ्यास करना चाहिये। उस असली सुखकी प्राप्तिका साधन बहुत सुगम है, शीघ्र फलदायक है और कोई कैसा भी आचरणहीन मनुष्य क्यों न हो, वह सबके लिये है; क्योंकि परमात्माकी प्राप्तिमें मनुष्यमात्रका अधिकार है तथा वह अन्यान्य साधनोंसे श्रेष्ठ भी है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि निर्गुण-निराकार अव्यक्त सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी प्राप्तिको तो भगवान्‌ने गीतामें कठिन बतलाया है—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

(१२। ५)

'उन सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्ममें आसक्त चित्तवाले पुरुषोंके साधनमें परिश्रम विशेष है; क्योंकि देहाभिमानियोंके द्वारा

अव्यक्त-विषयक गति दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है।'

इसका उत्तर यह है कि यह कठिनता देहाभिमानी पुरुषोंके लिये है। निर्गुण-निराकार ब्रह्मके स्वरूपमें अभेदरूपसे जिसकी स्थिति है उस ब्रह्मभूत पुरुषके लिये नहीं, इसी कारण यहाँ भगवान्‌ने **'देहवद्भिः'** कहकर स्पष्ट कर दिया है कि यह देहाभिमानियोंके लिये ही कठिन है, न कि ब्रह्मभूतके लिये; बल्कि ब्रह्मभूत योगीके लिये तो इसका सुखपूर्वक प्राप्त होना बतलाया गया है—

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥

(गीता ६। २७-२८)

'क्योंकि जिसका मन भली प्रकार शान्त है, जो पापसे रहित है और जिसका रजोगुण शान्त हो गया है, ऐसे ब्रह्मभूत—इस सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके साथ एकीभावको प्राप्त योगीको उत्तम आनन्द प्राप्त होता है। वह पापरहित योगी इस प्रकार निरन्तर आत्माको परमात्मामें लगाता हुआ सुखपूर्वक अनायास ही परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप अनन्त आनन्दका अनुभव करता है।'

जिससे अनायास ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, वह साधन ऊपर गीता अ० ६ श्लोक २४-२५, २७-२८ में बतला ही चुके हैं। उस साधनको करते-करते यदि साधकका मन इधर-उधर संसारमें चला जाय तो जहाँ-जहाँ यह चञ्चल और अस्थिर मन जाय, वहाँ-वहाँसे रोककर उसे परमात्मामें ही लगानेका तीव्र अभ्यास करना चाहिये—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

(गीता ६। २६)

अतः परमात्माकी प्राप्ति ब्रह्मभूत साधकके लिये कठिन नहीं है, बल्कि सुगम है तथा यह भी स्पष्ट कहा गया है कि पराभक्तिरूप ज्ञानकी परानिष्ठाको ब्रह्मभूत पुरुष प्राप्त कर लेता है (गीता १८। ५४)।

इतना ही नहीं, साधन करनेसे परम शान्तिरूप परमात्माकी प्राप्ति उपासकको शीघ्र हो सकती है। भगवान्‌ने बताया है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

(गीता ४। ३९)

'जितेन्द्रिय,साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह बिना विलम्बके तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परमशान्तिको प्राप्त हो जाता है।'

यही नहीं, कैसा भी दुराचारी— पापी क्यों न हो उसको भी इसके साधनसे परमात्माका यथार्थ ज्ञान होकर परमशान्तिरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। भगवान् कहते हैं—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥

(गीता ४। ३६)

'यदि तू अन्य सब पापियोंसे भी अधिक पाप करनेवाला है तो भी तू ज्ञानरूप नौकाद्वारा निःसंदेह सम्पूर्ण पापसमुद्रसे भलीभाँति तर जायगा।'

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥

(गीता ४ । ३७)

'क्योंकि अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनोंको भस्ममय कर देता है,वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्मोंको भस्ममय कर देता है ।'

फिर पापरहित विवेकशील पुरुषोंके लिये तो बात ही क्या है ? यह साधन अन्य साधनोंसे श्रेष्ठ भी है—

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥

(गीता ४ । ३३)

'परंतप अर्जुन ! द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अत्यन्त श्रेष्ठ है; क्योंकि यावन्मात्र सम्पूर्ण सत्कर्म ज्ञानमें समाप्त हो जाते हैं ।'

गीता अ० ४ श्लोक २४ से ३० तक बतलाये हुए साधनोंमेंसे द्रव्य और क्रियासे सिद्ध होनेवाले साधन ज्ञानमें ही समाप्त होते हैं, अतः यह ज्ञानयज्ञ अन्य साधनोंसे श्रेष्ठ है ।

अतः इस ज्ञानकी प्राप्तिके लिये तत्त्वदर्शी ज्ञानी महात्माओंके पास जाकर उसे प्राप्त करना चाहिये—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

(गीता ४ । ३४)

'उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ; उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस ज्ञानका उपदेश करेंगे ।'

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचनसे यही सिद्ध हुआ कि असली सुख तो परमात्मामें ही है और साधनके द्वारा वह प्राप्त किया जा सकता है। जिसने साधन करके काम-क्रोधको जीत लिया है, उस पुरुषको सहज ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। भगवान् कहते हैं—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥
योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥

(गीता ५। २३-२४)

'जो साधक इस मनुष्य-शरीरमें, शरीरका नाश होनेसे पहले-पहले ही काम-क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले वेगको सहन करनेमें समर्थ हो जाता है, वही पुरुष योगी है और वही पुरुष सुखी है। जो पुरुष आत्मामें ही सुखी है, आत्मामें ही रमण करता है तथा जो आत्मामें ही ज्ञानवान् है, वह ब्रह्मभूत—सच्चिदानन्दघन परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त ज्ञानयोगी शान्त ब्रह्मको प्राप्त होता है।'

इसलिये मनुष्यको संसारके सारे पदार्थोंको नाशवान् और दुःखरूप समझकर उनसे तीव्र वैराग्य करना चाहिये और निर्गुण-निराकार ब्रह्मके ध्यानमें मस्त हो जाना चाहिये, जिससे अक्षय, अनन्त विज्ञानानन्दघन परमात्माकी प्राप्ति सहज ही हो सकती है।
भगवान् कहते हैं—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥

(गीता ५। २१)

'बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला साधक आत्मामें

स्थित जो ध्यानजनित आनन्द है उसको प्राप्त होता है। तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके ध्यानयोगमें अभिन्नभावसे स्थित पुरुष अक्षय आनन्दका अनुभव करता है।'

विवेकदृष्टिसे देखा जाय तो संसारके किसी पदार्थमें सुख है ही नहीं, यत्किंचित् जो सुख-सा प्रतीत होता है, वह परिणाममें दुःख देनेवाला है। आलस्य-निद्रामें जो सुख प्रतीत होता है वह मोहमें डालकर काष्ठ-लोष्ठवत् जड बना देता है तथा इन्द्रियों और विषयोंके सङ्गसे जो सुख प्रतीत होता है वह यद्यपि आरम्भमें अमृत-सा प्रतीत होता है, किन्तु अन्तमें महान् विषके तुल्य है। जैसे एक मनुष्य स्त्रीके साथ सहवास करता है, तो उस कालमें उसे वह सुख अमृतके तुल्य-सा दीखता है, किंतु सहवास करनेपर प्रत्यक्ष वीर्यकी हानि होती है और वीर्यके नाशसे बल, बुद्धि, तेजकी हानि होकर उसका इस लोकमें पतन हो जाता है और यदि शास्त्रविपरीत सहवास हो तो चाहे अपनी धर्मपत्नीके साथ ही क्यों न हो, उससे परलोकमें दुर्गति होती है तथा जिस तरह बीमार मनुष्य जिह्वाके क्षणिक स्वादके वश होकर वैद्य-डाक्टरके बताये हुए पथ्यके विरुद्ध खान-पान कर लेता है और वह उसके परिणाममें प्रत्यक्ष ही दुःखका अनुभव करता है। किसी-किसीकी तो बीमारी बढ़ जानेसे मृत्यु भी हो जाती है। इसी प्रकार अन्यान्य इन्द्रियोंके विषयोंमें भी समझ लेना चाहिये। अतः जो मनुष्य क्षणिक झूठे सुखके लोभमें फँसकर परिणाममें होनेवाली बड़ी भारी हानिको नहीं देखता, उससे बढ़कर मूर्ख कौन होगा ?

इस प्रकार धनमें भी दुःख-ही-दुःख है। प्रथम तो धनोपार्जन करनेमें बड़ी भारी कठिनता है, फिर उसकी रक्षा करनेमें कष्ट है तथा खर्च करने और दान देनेमें भी कष्ट होता है। किसी कारण उसका

विनाश हो जाय या हमलोग छोड़कर चल बसें तो दुःखकी सीमा ही नहीं है और आजकल तो प्रायः मनुष्य झूठ, कपट, चोरी, बेईमानीसे धनोपार्जन करते हैं, जिसके फलस्वरूप घोर नरककी प्राप्ति होती है। फिर, उन संग्रह किये हुए रुपयोंकी क्या दशा होगी—समझमें नहीं आता। ऐसी हालतमें मनुष्यको विचार करना चाहिये कि 'धनोपार्जनके लिये हम पाप क्यों करें, हमें उससे क्या मतलब है ?'

इसी तरह मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाकी प्राप्तिमें जो सुख होता है, वह भी क्षणिक और विनाशशील है। जब उसके विपरीत अपमान, निन्दा, बेइज्जती होती है, तब दुःखकी सीमा ही नहीं रहती। मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी प्राप्तिके लिये मनुष्य सुख-सम्पत्तिकी तो बात ही क्या, ईश्वर और धर्मको भी छोड़ बैठता है, जिसके फलस्वरूप परलोकमें दुर्गति होती है। अपमान, निन्दा, अप्रतिष्ठा होनेमें बड़ा डर रहता है और वह अपमान, निन्दा, अप्रतिष्ठा करनेवालेका अनिष्ट करनेमें तत्पर हो जाता है। इससे वह स्वयं ईर्ष्या, भय, क्रोध, वैर, द्वेष, चिन्ता आदिसे जलता रहता है और दूसरोंका अनिष्ट करनेके कारण उसे घोर नरककी प्राप्ति होती है। उसका यह लोक और परलोक—दोनों नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। अतः मान-बड़ाई-प्रतिष्ठासे इस लोक और परलोकमें वास्तवमें कोई लाभ नहीं, बल्कि हानि है। इसलिये इनकी प्राप्तिके लिये जो समय, सम्पत्ति तथा शक्ति नष्ट करते हैं, वे मूर्ख नहीं तो और क्या हैं ?

जैसे कञ्चन-कामिनी और मान-बड़ाई-प्रतिष्ठामें दुःख-ही-दुःख है, इसी प्रकार मोह-मायामें जकड़े हुए मनुष्यके लिये कुटुम्बके सङ्गसे भी दुःख-ही-दुःख है। पुत्र आदिकी उत्पत्तिमें, पालनमें, उनकी रक्षा करनेमें, उनके बीमार होनेमें, मृत्यु हो जानेमें दुःख-ही-दुःख है। यदि वे हमारे प्रतिकूल होते हैं तो दुःख और यदि हम उनके प्रतिकूल होते

हैं तो दुःख। इसलिये कुटुम्बमें ममता, मोह और स्नेह करना दुःखका ही मूल है। उसमें सुख तो लेशमात्र भी नहीं है। उसमें जो सुखकी प्रतीति होती है, वह अज्ञानके कारण ही होती है।

उपर्युक्त स्त्री और कुटुम्बकी आसक्तिसे काम, धनकी आसक्तिसे लोभ तथा मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी आसक्तिसे राग एवं उन सबमें बाधा पड़नेपर क्रोध उत्पन्न होकर मनुष्यका इस लोकमें पतन होता है और उसे परलोकमें घोर नरकोंकी प्राप्ति होती है।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

(गीता १६। २१)

'काम, क्रोध तथा लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार आत्माका नाश—पतन करनेवाले अर्थात् उसको अधोगतिमें ले जानेवाले हैं। अतः इन तीनोंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये; क्योंकि जो इन काम-क्रोधादिसे रहित हैं, उन्हींको परमशान्ति मिलती है—

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥

(गीता ५। २६)

'काम-क्रोधसे रहित, जीते हुए चित्तवाले, परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार किये हुए ज्ञानी पुरुषोंके लिये सब ओरसे शान्त परब्रह्म परमात्मा ही सदा परिपूर्ण है।'

इसलिये कञ्चन, कामिनी, कुटुम्ब, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठासे प्रतीत होनेवाले सुखको लात मारकर विवेकपूर्वक सब बातोंके तत्त्व-रहस्यको समझकर सच्चे सुखकी प्राप्तिके लिये तत्परतासे साधन करते हुए अपने मनुष्य-जीवनको सार्थक बनाना चाहिये।

ईश्वरने हमलोगोंको जो विवेक, बुद्धि और ज्ञान आदि दिये हैं, उनका उचित उपयोग करके हमको विचार करना चाहिये कि हमारा समय किस काममें बीत रहा है। ईश्वरने हमको जो कुछ भी दिया है, क्या उस सबका हम सदुपयोग कर रहे हैं? यदि नहीं तो क्या हमें पीछे पछताना नहीं पड़ेगा? क्योंकि जो मनुष्य बिना विचारे अपने समयको नष्ट कर देता है उसे सदाके लिये पश्चात्ताप करना पड़ता है। अतः किसी भी कामको करनेके पहले हमें यह विचार करना चाहिये कि क्या हम यह काम ठीक कर रहे हैं? यदि नहीं तो हमें उस कामका सुधार करना चाहिये।

समय बड़ा अमूल्य है। एक क्षणका समय भी लाख रुपये खर्च करनेसे या स्तुति-प्रार्थनापूर्वक रुदन करनेसे या अन्य किसी उपायसे भी मिलना सम्भव नहीं है। समयका सदुपयोग करनेसे तो परमात्मातककी प्राप्ति हो जाती है, किंतु समय किसी उपायसे प्राप्त होना सम्भव नहीं है, अतः जो कुछ समय शेष है उसीमें अपना काम शीघ्र बना लेना है। इसलिये जबतक मृत्यु दूर है, स्वास्थ्य ठीक है, तभीतक जो कुछ उत्तम-से-उत्तम अपना कर्तव्य है उसका पालन कर लेना चाहिये; क्योंकि मृत्यु प्राप्त होनेपर मनुष्य कुछ नहीं कर सकता। अतः जीवन रहते ही सावधान होना चाहिये। श्रुति कहती है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।

(केनोपनिषद् २। ५)

'यदि इस मनुष्य-जीवनमें ही परमात्माको जान लिया तो अच्छी बात है। यदि इस जीवनमें उसे नहीं जाना तो बड़ी हानि है।'

गीतामें भगवान् कहते हैं—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥

(९। ३३ का उत्तरार्ध)

'अर्जुन ! इसलिये तू सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस दुर्लभ मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर।'

संत कबीरने कहा है—

कबिरा नौबत आपनी दिन दस लेहु बजाय।
यह पुर पट्टन यह गली बहुरि न देखहु आय॥

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥
जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

(रा॰ च॰ मा॰ उत्तर ४३-४४)

अतएव मनुष्यको शीघ्रातिशीघ्र सचेत हो परमात्माकी प्राप्तिके लिये कटिबद्ध होकर प्राणपर्यन्त प्रयत्न करना चाहिये। परमात्माकी प्राप्तिके लिये मन, बुद्धि, शरीर, इन्द्रियाँ आदि जिन चीजोंकी आवश्यकता है, वे सब ईश्वरकी कृपासे हम सबको प्राप्त हैं। ईश्वरके दिये हुए उन पदार्थोंका जो सदुपयोग करता है, उसका कल्याण हो जाता है; परंतु जो उनका दुरुपयोग करता है, उसका पतन हो जाता है। इसलिये हमलोगोंको ईश्वरके दिये हुए पदार्थोंका सदुपयोग करना चाहिये यानी उन ईश्वरके दिये हुए पदार्थोंको ईश्वरके ही समर्पण कर देना चाहिये। तात्पर्य यह है कि विश्वको परमात्माका स्वरूप समझकर उनकी सेवामें लगा देना ही ईश्वरकी दी हुई वस्तुओंको ईश्वरके समर्पण करना है और यही उनका सदुपयोग करना है तथा इसके विपरीत करना उनका दुरुपयोग करना है। इसी प्रकार मन-बुद्धि-इन्द्रियोंका संयम करके उनको संसारके विषय-भोगोंसे हटाकर परमात्मामें लगा देना भी उनका

सदुपयोग करना है एवं उसके विरुद्ध निद्रा, आलस्य , प्रमाद, पाप और विषय-भोगोंमें लगाना दुरुपयोग है। अतएव ईश्वरने हमलोगोंको जो बुद्धि दी है उसके द्वारा सोच-समझकर समयका सदुपयोग करना चाहिये। बुद्धि और विवेकके रहते हुए उनका उचित उपयोग न करें तो यह हमलोगोंकी महान् मूर्खता है। मनुष्यको पद-पदपर क्षण-क्षणमें विवेकयुक्त बुद्धिसे काम लेना चाहिये और अपना समय उच्च-से-उच्च कार्यमें लगाना चाहिये। बुद्धिमान् मनुष्यको इसके विपरीत आचरण कभी नहीं करना चाहिये। जो अपने समयका उचित उपयोग करता है, वही बुद्धिमान् है और वही योगी है। यह मनुष्यजीवन, उत्तम देशकाल, उत्तम सङ्ग ईश्वरकी कृपासे ही प्राप्त हुआ है। ऐसा मौका बार-बार मिलना कठिन है। इसलिये शीघ्र ही सावधान होकर अपना कार्य सिद्ध कर लेना चाहिये। अपने समयका एक क्षण भी व्यर्थ नहीं खोना चाहिये। श्रुति चेतावनी देती हुई कहती है—

'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत'

(कठोपनिषद् १। ३ १४)

'उठो, जागो और श्रेष्ठ महापुरुषोंके पास जाकर उनके द्वारा परमानन्दमय परमात्माका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करो।'

ज्ञानकी सात भूमिकाएँ

श्रीवसिष्ठजीने बतलाया है—

ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता।
विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसा॥
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात् ततोऽसंसक्तिनामिका।
पदार्थाभावना षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता॥

(योगवासिष्ठ, उत्पत्ति० ११८। ५-६)

'पहली शुभेच्छा, दूसरी विचारणा, तीसरी तनुमानसा, चौथी सत्त्वापत्ति, पाँचवीं असंसक्ति, छठी पदार्थाभावना और सातवीं तुर्यगा—इस प्रकार ये ज्ञानकी सात भूमिकाएँ मानी गयी हैं।'

इनके स्वरूपको पृथक्-पृथक् इस प्रकार समझना चाहिये—

१—शुभेच्छा

स्थितः किं मूढ एवास्मि प्रेक्ष्येऽहं शास्त्रसज्जनैः।
वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः॥

(योगवासिष्ठ, उत्पत्ति० ११८। ८)

'मैं मूढ़ होकर ही क्यों स्थित रहूँ, मैं शास्त्रों और सत्पुरुषोंके द्वारा जानकर तत्त्वका साक्षात्कार करूँगा—इस प्रकार वैराग्यपूर्वक केवल मोक्षकी इच्छा होनेको ज्ञानीजनोंने 'शुभेच्छा' कहा है।'

अभिप्राय यह कि समस्त (पापमय) अशुभ इच्छाओंका अर्थात् चोरी, व्यभिचार, झूठ, कपट, छल, बलात्कार, हिंसा, अभक्ष्यभोजन, दुर्व्यसन और प्रमाद (व्यर्थ चेष्टा) आदि शास्त्र-निषिद्ध कर्मोंका मन, वाणी और शरीरसे त्याग करना; नाशवान् क्षणभङ्गुर स्त्री, पुत्र और धन

आदि प्रिय वस्तुओंकी प्राप्तिके उद्देश्यसे तथा रोग-संकटादिकी निवृत्तिके उद्देश्यसे किये जानेवाले यज्ञ, दान, तप और उपासनादि काम्यकर्मोंको अपने स्वार्थके लिये न करना; मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा एवं स्त्री, पुत्र और धनादि जो कुछ भी अनित्य पदार्थ प्रारब्धके अनुसार प्राप्त हुए हों, उनके बढ़नेकी इच्छाका त्याग करना; अपने सुखके लिये किसीसे भी धनादि पदार्थोंकी अथवा सेवा करनेकी याचना न करना और बिना याचनाके दिये हुए पदार्थोंको या की हुई सेवाको स्वीकार न करना तथा किसी प्रकार भी किसीसे अपना स्वार्थ सिद्ध करनेकी मनमें इच्छा न रखना; ईश्वरकी भक्ति, देवताओंका पूजन, माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवा, यज्ञ, दान, तप तथा वर्णाश्रमके अनुसार जीविकाद्वारा गृहस्थका निर्वाह और शरीर-सम्बन्धी खान-पान आदि सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंमें आलस्यका तथा सब प्रकारकी सांसारिक कामनाका त्याग करना एवं **'प्रज्ञानं ब्रह्म'** (ऐतरेय-उप० १।३)— ब्रह्म विज्ञानघन है, **'अयमात्मा ब्रह्म'** (माण्डूक्य-उप०२)—यह आत्मा ही परब्रह्म परमात्मा है, **'तत्त्वमसि'** (छान्दोग्य-उप० ६।१२।३)—वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म तू ही है और **'अहं ब्रह्मास्मि'** (बृहदा० उप० १।४।१०)—मैं देह नहीं हूँ, ब्रह्म हूँ—इन वेदान्तवाक्योंका एकमात्र परमात्माके तत्त्व-रहस्य-ज्ञान-पूर्वक उनको प्राप्त करनेकी इच्छासे सत्-शास्त्रोंमें अध्ययन करना और सत्पुरुषोंका सङ्ग करके उनसे इन महावाक्योंका श्रवण करना ही 'शुभेच्छा' नामकी प्रथम भूमिका है। इसलिये इस भूमिकाको 'श्रवण' भूमिका भी कहा जा सकता है।

२—विचारणा

शास्त्रसज्जनसम्पर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम् ।
सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा ॥

(योगवासिष्ठ, उत्पत्ति० ११८।९)

'शास्त्रोंके अध्ययन, मनन और सत्पुरुषोंके सङ्ग तथा विवेक, वैराग्यके अभ्यासपूर्वक सदाचारमें प्रवृत्त होना—यह 'विचारणा' नामकी भूमिका कही जाती है।'

उपर्युक्त प्रकारसे सत्पुरुषोंके सङ्ग, सेवा एवं आज्ञापालनसे, सत् शास्त्रोंके अध्ययन-मननसे तथा दैवी, सम्पदारूप सद्गुण-सदाचारके सेवनसे उत्पन्न हुआ विवेक (विवेचन) ही 'विचारणा' है। भाव यह कि सत्-असत् और नित्य-अनित्य वस्तुके विवेचनका नाम 'विवेक' है। विवेक इनका भलीभाँति पृथक्करण कर देता है। सब अवस्थाओंमें और प्रत्येक वस्तुमें प्रतिक्षण आत्मा और अनात्माका विश्लेषण करते-करते यह विवेक सिद्ध होता है।

जिसका कभी नाश न हो, वह 'सत्' है और जिसका नाश होता है, वह 'असत्' है। भगवान्‌ने कहा है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(गीता २। १६)

'असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है।'

इस नियमके अनुसार जो दृश्य जड पदार्थ हैं, वे उत्पत्ति-विनाशशील होनेके कारण असत् हैं और परमात्मा ही एक सत् पदार्थ है। जीवात्मा भी उसका अंश होनेके कारण सत् है। अद्वैत-सिद्धान्तके अनुसार जीवात्मा और परमात्मा वस्तुतः एक ही हैं, जीवको मायाकी उपाधिके सम्बन्धसे उनका भेद प्रतीत होता है। जैसे महाकाशके एक होते हुए भी घड़ेकी उपाधिके सम्बन्धसे घटाकाश और महाकाश अलग-अलग प्रतीत होते हैं, वस्तुतः घटाकाश, महाकाश एक ही हैं,

इसी प्रकार जीवात्मा, परमात्मा वास्तवमें एक ही हैं—इस तत्त्वको समझ लेना 'विवेक' है।

उपर्युक्त विवेकके द्वारा जब सत्-असत् और नित्य-अनित्यका पृथक्करण हो जाता है, तब असत् और अनित्यसे आसक्ति हट जाती है; एवं इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें कामना और आसक्तिका न रहना ही 'वैराग्य' है। महर्षि पतञ्जलिने कहा है—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।

(योगदर्शन १।१५)

'स्त्री, पुत्र, धन, भवन, मान, बड़ाई आदि इस लोकके और स्वर्गादि परलोकके सम्पूर्ण विषयोंमें तृष्णारहित हुए चित्तकी जो वशीकार-अवस्था होती है, उसका नाम 'वैराग्य' है।'

समस्त इन्द्रियों और विषयोंके सङ्गसे उत्पन्न होनेवाले जितने भी भोग हैं, वे सब अनित्य हैं; किंतु अज्ञानसे अनित्यमें नित्यबुद्धि होनेके कारण विषयभोगादि नित्य प्रतीत होते हैं। इसलिये उनको अनित्य मानकर उनसे वैराग्य करना चाहिये। गीतामें भगवान् कहते हैं—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥

(२।१४)

'हे कुन्तीपुत्र! सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखको देनेवाले इन्द्रिय और विषयोंके संयोग तो उत्पत्ति-विनाशशील और अनित्य हैं; इसलिये हे भारत! उनको तू सहन कर।'

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥

(२।१५)

'क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ ! दुःख-सुखको समान समझनेवाले जिस धीर पुरुषको ये इन्द्रिय और विषयोंके संयोग व्याकुल नहीं कर सकते, वह मोक्षके योग्य होता है।'

अतः वैराग्यकी प्राप्तिके लिये संसारके विषयभोगोंको अनित्य और दुःखरूप समझकर उनमें आसक्तिरहित होना परम आवश्यक है, यों समझकर ही विवेकी मनुष्य उनमें नहीं रमते। भगवान्‌ने कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५। २२)

'जो ये इन्द्रिय और विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं, तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं; इसलिये हे अर्जुन ! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।'

इस प्रकार विवेक-वैराग्य हो जानेपर साधकका चित्त निर्मल हो जाता है; उसमें क्षमा, सरलता, पवित्रता तथा प्रिय-अप्रियकी प्राप्तिमें समता आदि गुण आने लगते हैं; उसके मन, इन्द्रिय और शरीर विषयोंसे हटकर वशमें हो जाते हैं, फिर उसे गङ्गातट, तीर्थस्थान, गिरि-गुहा, वन आदि एकान्तदेशका सेवन ही अच्छा लगता है; उसके ममता, राग-द्वेष, विक्षेप और मान-बड़ाईकी इच्छाका अभाव-सा हो जाता है; विषय-भोगोंसे स्वाभाविक ही उपरति हो जाती है एवं विवेक-वैराग्यके प्रभावसे वह नित्य परमात्माके स्वरूपके चिन्तनमें ही लगा रहता है।

भगवान्‌ने गीतामें ज्ञानके साधन बतलाते हुए कहा है—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥

(१३।७—११)

'श्रेष्ठताके अभिमानका अभाव, दम्भाचरणका अभाव, किसी भी प्राणीको किसी प्रकार भी न सताना, क्षमाभाव, मन-वाणी आदिकी सरलता, श्रद्धा-भक्तिसहित गुरुकी सेवा, बाहर-भीतरकी शुद्धि, अन्तःकरणकी स्थिरता और मन-इन्द्रियोंसहित शरीरका निग्रह; इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव और अहंकारका भी अभाव, जन्म, मृत्यु , जरा और रोग आदिमें दुःख और दोषोंका बार-बार विचार करना; पुत्र, स्त्री, घर और धन आदिमें आसक्तिका अभाव, ममताका न होना तथा प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें सदा ही चित्तका सम रहना; मुझ परमेश्वरमें अनन्य योगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति तथा एकान्त और शुद्ध देशमें रहनेका स्वभाव और विषयासक्त मनुष्योंके समुदायमें प्रेमका न होना; अध्यात्मज्ञानमें नित्य-स्थिति और तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माको ही देखना—यह सब ज्ञान है और जो इससे विपरीत है, वह अज्ञान है—यों कहा गया है।'

दूसरी भूमिकामें परिपक्व हो जानेपर उस साधकमें उपर्युक्त गुण और आचरण आने लगते हैं।

ऊपर प्रथम भूमिकामें बताये हुए महावाक्योंका निरन्तर मनन और चिन्तन करना ही प्रधान होनेके कारण इस दूसरी भूमिकाको 'विचारणा' कहा गया है, अतः इसे 'मनन' भूमिका भी कहा जा सकता है।

३—तनुमानसा

विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेष्वसक्तता ।
यात्रा सा तनुताभावात् प्रोच्यते तनुमानसा ॥

(योगवासिष्ठ, उत्पत्ति० ११८ । १०)

'उपर्युक्त शुभेच्छा और विचारणाके द्वारा इन्द्रियोंके विषयभोगोंमें आसक्तिका अभाव होना और अनासक्त हो संसारमें विचरण करना—यह 'तनुमानसा' है; इसमें मन शुद्ध होकर सूक्ष्मताको प्राप्त हो जाता है, इसीलिये इसे 'तनुमानसा' कहते हैं।'

अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त कामना, आसक्ति और ममताके अभावसे; सत्पुरुषोंके सङ्ग और सत्-शास्त्रोंके अभ्याससे तथा विवेक-वैराग्यपूर्वक निदिध्यासन—ध्यानके साधनसे साधककी बुद्धि तीक्ष्ण हो जाती है तथा उसका मन शुद्ध, निर्मल, सूक्ष्म और एकाग्र हो जाता है, जिससे उसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमात्मतत्त्वको ग्रहण करनेकी योग्यता अनायास ही प्राप्त हो जाती है। इसीको 'तनुमानसा' भूमिका कहा गया है।

इस तीसरी भूमिकामें स्थित साधकके अन्तःकरणमें सम्पूर्ण अवगुणोंका अभाव होकर स्वाभाविक ही अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अनसूया (दोषदृष्टिका अभाव), अमानिता, निष्कपटता, पवित्रता, संतोष, शम, दम, समाधान, तेज, क्षमा, दया, धैर्य, अद्रोह, निर्भयता, निरहंकारता, शान्ति, समता आदि सद्गुणोंका आविर्भाव हो जाता है। फिर उसके द्वारा जो भी चेष्टा होती है, वह सब

सदाचाररूप ही होती है तथा उस साधकको 'संसारके सम्पूर्ण पदार्थ मायाके कार्य होनेसे सर्वथा अनित्य हैं और एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही सर्वत्र समभावसे परिपूर्ण हैं'—ऐसा दृढ़ निश्चय होकर शरीरसहित संसारके सम्पूर्ण पदार्थों और कर्मोंमें उसकी वासनाका भी अभाव हो जाता है। भाव यह है कि उसके अन्तःकरणमें उनके चित्र संस्काररूपसे भी नहीं रहते एवं शरीरमें अहंभाव तथा मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनका अभिमान नहीं रहता; क्योंकि वह परवैराग्यको प्राप्त हो जाता है। परवैराग्यका स्वरूप महर्षि पतञ्जलिने यों बतलाया है—

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्।

(योगदर्शन १।१६)

'प्रकृतिसे अत्यन्त विलक्षण पुरुषके ज्ञानसे तीनों गुणोंमें जो तृष्णाका अत्यन्त अभाव हो जाना है, यह परवैराग्य या सर्वोत्तम वैराग्य है।'

पूर्वोक्त दूसरी भूमिकामें स्थित पुरुषकी तो विषयोंका विशेष संसर्ग होनेसे कदाचित् उनमें कुछ आसक्ति हो भी सकती है; परंतु इस तीसरी भूमिकामें पहुँचे हुए पुरुषकी तो विषयोंके साथ संसर्ग होनेपर भी उनमें आसक्ति नहीं होती; क्योंकि उसके निश्चयमें एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके सिवा अन्य कोई वस्तु रहती ही नहीं। अतः परवैराग्य हो जानेके कारण उसके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ सम्पूर्ण संसारसे अत्यन्त उपरत हो जाती हैं। यदि किसी कालमें कोई स्फुरणा हो भी जाती है तो भी उसके संस्कार नहीं जमते; क्योंकि उसकी एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें ही निरन्तर गाढ़ स्थिति बनी रहती है, जिसके कारण उसे कभी-कभी तो शरीर और संसारका विस्मरण होकर समाधि-सी हो

जाती है। ये सब लक्षण परमात्माकी प्राप्तिके अत्यन्त निकट पहुँच जानेपर होते हैं।

सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माका चिन्तन करते-करते उस परमात्मामें तन्मय हो जाना तथा अत्यन्त वैराग्य और उपरतिके कारण परमात्माके ध्यानमें ही नित्य स्थित रहनेसे मनका विशुद्ध होकर सूक्ष्म हो जाना ही 'तनुमानसा' नामकी तीसरी भूमिका है। अतः इसे 'निदिध्यासन' भूमिका भी कह सकते हैं।

ये तीनों भूमिकाएँ साधनरूपा हैं। इनमें संसारसे कुछ सम्बन्ध रहता है, अतः यहाँतक साधककी 'जाग्रत्-अवस्था' मानी गयी है।

४—सत्त्वापत्ति

भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्तेऽर्थे विरतेर्वशात्।
सत्यात्मनि स्थितिः शुद्धे सत्त्वापत्तिरुदाहृता॥

(योगवासिष्ठ, उत्पत्ति० ११८। ११)

'ऊपर बतायी हुई शुभेच्छा—श्रवण, विचारणा—मनन और तनुमानसा—निदिध्यासन भूमिकाओंके अभ्याससे चित्तके सांसारिक विषयोंसे अत्यन्त विरक्त हो जानेके अनन्तर उसके प्रभावसे आत्माका शुद्ध तथा सत्यस्वरूप परमात्मामें तद्रूप हो जाना 'सत्त्वापत्ति' कहा गया है।'

उपर्युक्त श्रवण, मनन और निदिध्यासनके तीव्र अभ्याससे जब साधक सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है, तब उसीको 'सत्त्वापत्ति' नामकी चौथी भूमिका कहते हैं। इसीको गीतामें निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति कहा गया है—

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥

(५। २४)

'जो पुरुष आत्मामें ही सुखी है, आत्मामें ही रमण करता है तथा जो आत्मामें ही ज्ञानवान् है, वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त—'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अनुभव करनेवाला ज्ञानयोगी शान्त ब्रह्मको प्राप्त होता है।'

जिस प्रकार गङ्गा-यमुना आदि सारी नदियाँ बहती हुई अपने नाम-रूपको छोड़कर समुद्रमें ही विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार ज्ञानी महात्मा नाम-रूपसे रहित होकर परम दिव्य पुरुष परात्पर परमात्माको ही प्राप्त हो जाता है, उसीमें विलीन हो जाता है—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे-
ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

(मुण्डकोपनिषद् ३।२।८)

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

(१८।५४-५५)

'मैं ही ब्रह्म हूँ इस प्रकारके अनुभवसे सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित, प्रसन्न मनवाला ज्ञानयोगी न तो किसीके लिये शोक करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा ही करता है। ऐसा समस्त प्राणियोंमें समभाववाला योगी मेरी पराभक्ति (ज्ञाननिष्ठा) को प्राप्त हो जाता है। उस ज्ञाननिष्ठारूप पराभक्तिके द्वारा वह मुझ परमात्माको मैं जो हूँ और

जितना हूँ, ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्वसे जान लेता है तथा उस ज्ञान-निष्ठासे मुझको तत्त्वसे जानकर तत्काल ही मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।'

जब साधकको परब्रह्मका यथार्थ ज्ञान हो जाता है, तब वह ब्रह्म ही हो जाता है—

स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।

(मुण्डकोपनिषद् ३।२।९)

फिर उसका इस शरीर और संसारसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता। ब्रह्मवेत्ता पुरुषके अन्तःकरणमें शरीर और अन्तःकरणके सहित यह संसार स्वप्नवत् प्रतीत होता है। जैसे स्वप्नसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नकी घटनाको मनकी कल्पनामात्र समझता है, वैसे ही उस ब्रह्मवेत्ताके अन्तःकरणमें यह संसार कल्पनामात्र प्रतीत होता है अर्थात् इस संसारकी काल्पनिक सत्ता प्रतीत होती है। स्वप्नमें और इसमें इतना ही अन्तर है कि स्वप्नका समय तो भूतकाल है और संसारकी स्वप्नवत् प्रतीतिका समय वर्तमानकाल है; तथा स्वप्नमें तो जो मन-बुद्धि थे, वे वर्तमानमें भी इस जीवात्माके साथ सम्बन्धित हैं, किंतु जब मनुष्य ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, तब उसके मन-बुद्धि इस शरीरमें ही रह जाते हैं, उस ब्रह्मवेत्ताके साथ ब्रह्ममें सम्बन्धित नहीं होते, इसलिये ब्रह्मकी दृष्टिसे तो इस संसारका अत्यन्त अभाव है।

वास्तवमें तो ब्रह्मके कोई दृष्टि ही नहीं है। केवल समझानेके लिये उसमें दृष्टिका आरोप किया जाता है। ब्रह्मकी दृष्टिमें तो केवल एक ब्रह्म ही है, उसके सिवा अन्य कुछ भी नहीं। ब्रह्मवेत्ताके शरीरका जो अन्तःकरण है, उसमें इस संसारका तो अत्यन्त अभाव और सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका भाव प्रत्यक्ष है। यह ब्रह्मवेत्ताका अनुभव है।

इसी अनुभवके बलपर शास्त्रोंमें यह कहा गया है कि एक सच्चिदानन्द-घन ब्रह्मके सिवा अन्य कुछ भी नहीं है।

जो ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, वह ब्रह्म ही बन जाता है। श्रुतिमें भी कहा गया है—**'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति'** (बृहदारण्यक० ४।४।६)—'वह ब्रह्म ही होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है।' इसलिये वह लौटकर नहीं आता। श्रुति कहती है—

न च पुनरावर्तते। न च पुनरावर्तते।

(छान्दोग्य० ८।१५।१)

'फिर वह कभी नहीं लौटता, फिर वह कभी नहीं लौटता।'

जब ब्रह्मकी दृष्टिमें सृष्टिका अत्यन्त अभाव है, तब ब्रह्म ही हो जानेपर लौटकर कौन कैसे कहाँ आवे? गीतामें भी बतलाया गया है—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥

(५।१७)

'जिनका मन तद्रूप हो रहा है, जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है और सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही जिनकी निरन्तर एकीभावसे स्थिति है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्तिको अर्थात् पुनः न लौटनेवाली परमगतिको प्राप्त होते हैं।'

भाव यह कि उसका मन तद्रूप—ब्रह्मरूप हो जाता है। पूर्ण आनन्द, अपार आनन्द, शान्त आनन्द, घन आनन्द, अचल आनन्द, ध्रुव आनन्द, नित्य आनन्द, बोधस्वरूप आनन्द, ज्ञानस्वरूप आनन्द, परम आनन्द, महान् आनन्द, एक आनन्द-ही-आनन्द परिपूर्ण है, एक आनन्दके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है—इस प्रकार ब्रह्मके स्वरूपका

मनन करते-करते जब मन तन्मय—ब्रह्ममय हो जाता है, तब उसको 'तदात्मा' कहते हैं।

उपर्युक्त प्रकारके विशेषणोंसे विभूषित ब्रह्मका मनन करते-करते जब मन ब्रह्ममें विलीन हो जाता है और उन विशेषणोंकी आवृत्तिके प्रभावसे ब्रह्मके विशेष स्वरूपका बुद्धिमें अनुभव हो जाता है, तब बुद्धिके द्वारा अनुभव किये हुए उस ब्रह्मके विशेष स्वरूपको लक्ष्य बनाकर जीवात्मा उस ब्रह्मका ध्यान करता है। यहाँ ब्रह्म तो ध्येय है, ध्यान करनेवाला साधक ध्याता है और बुद्धिकी वृत्ति ही ध्यान है। इस प्रकार ध्यान करते-करते जब बुद्धि उस ब्रह्ममें विलीन हो जाती है तब उसे 'तद्बुद्धि' कहते हैं। इसके पश्चात् जब ध्याता, ध्यान और ध्येयरूप त्रिपुटी न रहकर साधककी ब्रह्मके स्वरूपमें अभिन्न स्थिति हो जाती है, तब उसे 'तन्निष्ठ' कहते हैं। इसमें ब्रह्मका नाम, रूप और ज्ञान रहता है, इसलिये यह प्रारम्भिक 'सविकल्प समाधि' है। इसीको सवितर्क सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। महर्षि पतञ्जलिने बतलाया है—

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः।

(योगदर्शन १।४२)

'उसमें शब्द, अर्थ और ज्ञान—इन तीनोंके विकल्पोंसे मिली हुई समाधि सवितर्क है।'

इस प्रकार सविकल्प समाधि होनेके बाद जब स्वतः ही साधककी 'निर्विकल्प समाधि' हो जाती है, तब ब्रह्मका नाम (शब्द), रूप (अर्थ) और ज्ञान—ये तीनों विकल्प भिन्न-भिन्न नहीं रह जाते, एक अर्थमात्र वस्तु—ब्रह्मका स्वरूप ही रह जाता है। इसीको निर्वितर्क सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। महर्षि पतञ्जलिने कहा है—

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का।

(योगदर्शन १।४३)

'(शब्द और प्रतीतिकी) स्मृतिके भलीभाँति लुप्त हो जानेपर अपने रूपसे शून्य हुईके सदृश केवल ध्येयमात्रके स्वरूपको प्रत्यक्ष करानेवाली (अन्तःकरणकी स्थिति ही) निर्वितर्क समाधि है।'

इसमें साधक स्वयं ब्रह्मस्वरूप ही बन जाता है। अतः उसको 'तत्परायण' कहते हैं। इस निर्विकल्प समाधिका फल जो निर्बीज असम्प्रज्ञात योग है, वही वास्तवमें ब्रह्मकी प्राप्ति है; उसीको यहाँ गीतामें अपुनरावृत्ति कहा गया है; क्योंकि ब्रह्मज्ञानके द्वारा जिसके मल, विक्षेप और आवरणरूप कल्मषका नाश हो गया है, वह ब्रह्मको प्राप्त पुरुष ब्रह्म ही हो जाता है; वह लौटकर नहीं आता।

यही 'सत्त्वापत्ति' नामकी चौथी भूमिका है। इसमें पहुँचे हुए पुरुषको 'ब्रह्मवित्'—ब्रह्मवेत्ता कहा जाता है। इसमें संसार उस ज्ञानी महात्माके अन्तःकरणमें स्वप्नवत् भासित होता है, इसलिये यह उसके अन्तःकरणकी 'स्वप्नावस्था' मानी जाती है।

श्रीयाज्ञवल्क्यजी, राजा अश्वपति और जनक आदि इस चौथी भूमिकाको प्राप्त हुए पुरुष माने गये हैं।

योगवासिष्ठमें जिस प्रकार ब्रह्मको प्राप्त पुरुषकी चौथी, पाँचवीं, छठी, सातवीं भूमिकाके रूपमें चार भेद बतलाये गये हैं, इस प्रकारके भेद गीता, रामायण, भागवत आदि ग्रन्थोंमें नहीं पाये जाते। परमात्माको प्राप्त पुरुषके लक्षण तो गीतामें जगह-जगह आते हैं, किंतु उसके इस प्रकारके अलग-अलग भेद नहीं बताये गये हैं। वास्तवमें ब्रह्मकी प्राप्ति होनेके पश्चात् ज्ञानी महात्मा पुरुषका शरीरसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता; क्योंकि वह देहाभिमानसे सर्वथा रहित होकर ब्रह्ममें तल्लीन हो जाता है। अतः योगवासिष्ठमें बतलाये गये उन भेदोंको ब्रह्मप्राप्त पुरुषके भेद न समझकर उसके अन्तःकरणके भेद समझने चाहिये।

५—असंसक्ति

दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसङ्गफलेन च।
रूढसत्त्वचमत्कारात् प्रोक्तासंसक्तिनामिका॥

(योगवासिष्ठ, उत्पत्ति० ११८।१२)

'शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति—इन चारोंके सिद्ध हो जानेपर स्वाभाविक अभ्याससे चित्तके बाह्याभ्यन्तर सभी विषयसंस्कारोंसे अत्यन्त असङ्ग (सम्बन्ध-विच्छेद) हो जानेपर अन्तःकरणका समाधिमें आरुढ—स्थित हो जाना ही 'असंसक्ति' नामकी पाँचवीं भूमिका कहा गया है।'

परम वैराग्य और परम उपरतिके कारण उस ब्रह्मप्राप्त ज्ञानी महात्माका इस संसार और शरीरसे अत्यन्त सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, इसीलिये इस पाँचवीं भूमिकाको असंसक्ति कहा गया है।

ऐसे पुरुषका संसारसे कोई भी प्रयोजन नहीं रहता। अतः वह कर्म करने या न करनेके लिये बाध्य नहीं है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥

(३।१८)

'उस महापुरुषका इस विश्वमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मोंके न करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें भी इसका किंचिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता।'

फिर भी उस ज्ञानी महात्मा पुरुषके सम्पूर्ण कर्म शास्त्रसम्मत और कामना एवं संकल्पसे शून्य होते हैं। इस प्रकार जिसके समस्त कर्म ज्ञानरूप अग्निके द्वारा भस्म हो गये हैं, उस महापुरुषको ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥

(गीता ४। १९)

अतः ऐसे पुरुषको उसके सम्मानके लिये 'ब्रह्मविद्वर' कहा जा सकता है। ऐसा महापुरुष जब समाधि-अवस्थामें रहता है, तब तो उसे सुषुप्ति-अवस्थाकी भाँति संसारका बिलकुल भान नहीं रहता और व्युत्थान-अवस्थामें—व्यवहार-कालमें उसके द्वारा पूर्वके अभ्याससे सत्ता, आसक्ति, कामना, संकल्प और कर्तृत्वाभिमानके बिना ही सारे कर्म होते रहते हैं। उसके द्वारा जो भी कर्म होते हैं, वे शास्त्रविहित ही होते हैं। उसकी कभी समाधि-अवस्था रहती है और कभी व्युत्थानावस्था। उसकी किसी दूसरेके प्रयत्नके बिना स्वतः ही व्युत्थानावस्था हो जाती है। किंतु वास्तवमें संसारके अभावका निश्चय होनेके कारण उसकी व्युत्थानावस्था भी समाधिके तुल्य ही होती है, इस कारण उसकी इस अवस्थाको 'सुषुप्ति-अवस्था' भी कहते हैं।

श्रीजडभरतजी इस पाँचवीं भूमिकामें स्थित माने जा सकते हैं।

६—पदार्थाभावना

भूमिकापञ्चकाभ्यासात् स्वात्मारामतया दृढम्।
आभ्यन्तराणां बाह्यानां पदार्थानामभावनात्॥
परप्रयुक्तेन चिरं प्रयत्नेनार्थभावनात्।
पदार्थाभावनानाम्नी षष्ठी संजायते गतिः॥

(योगवासिष्ठ, उत्पत्ति० ११८। १३-१४)

'उपर्युक्त पाँचों भूमिकाओंके सिद्ध हो जानेपर स्वाभाविक अभ्याससे उस ज्ञानी महात्माकी आत्मारामताके प्रभावसे उसके अन्तः-करणमें संसारके पदार्थोंका अत्यन्त अभाव-सा हो जाता है, जिससे

उसे बाहर-भीतरके किसी भी पदार्थका स्वयं भान नहीं होता, दूसरोंके द्वारा प्रयत्नपूर्वक चिरकालतक प्रेरणा करनेपर ही कभी किसी पदार्थका भान होता है; इसलिये उसके अन्तःकरणकी 'पदार्थाभावना, नामकी छठी भूमिका हो जाती है।'

पाँचवीं भूमिकाके पश्चात् जब वह ब्रह्मप्राप्त पुरुष छठी भूमिकामें प्रवेश करता है, तब उसकी नित्य समाधि रहती है, इसके कारण उसके द्वारा कोई भी क्रिया नहीं होती। उसके अन्तःकरणमें शरीर और संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंका अत्यन्त अभाव-सा हो जाता है। उसे संसारका और शरीरके बाहर-भीतरका बिलकुल ज्ञान नहीं रहता, केवल श्वास आते-जाते हैं; इसलिये उस भूमिकाको 'पदार्थाभावना' कहते हैं। जैसे 'गाढ़ सुषुप्ति' में स्थित पुरुषको बाहर-भीतरके पदार्थोंका ज्ञान बिलकुल नहीं रहता, वैसे ही इसको भी ज्ञान नहीं रहता। अतः उस पुरुषकी इस अवस्थाको 'गाढ़ सुषुप्ति-अवस्था' भी कहा जा सकता है। किंतु गाढ़ सुषुप्तिमें स्थित पुरुषके तो मन-बुद्धि अज्ञानके कारण अपने कारण मायामें विलीन हो जाते हैं, अतः उसकी स्थिति तमोगुणमयी है; पर इस ज्ञानी महापुरुषके मन-बुद्धि ब्रह्ममें तद्रूप हो जाते हैं (गीता ५। १७), अतः इसकी अवस्था गुणातीत है। इसलिये यह गाढ़ सुषुप्तिसे अत्यन्त विलक्षण है।

तथा गाढ़ सुषुप्तिमें स्थित पुरुष तो निद्राके परिपक्व हो जानेपर स्वतः ही जाग जाता है; किंतु इस समाधिस्थ ज्ञानी महात्मा पुरुषकी व्युत्थानावस्था तो दूसरोंके बारम्बार प्रयत्न करनेपर ही होती है, अपने-आप नहीं। उस व्युत्थानावस्थामें वह जिज्ञासुके प्रश्न करनेपर पूर्वके अभ्यासके कारण ब्रह्मविषयक तत्त्व-रहस्यको बतला सकता है। इसी कारण ऐसे पुरुषको 'ब्रह्मविद्वरीयान्' कहते हैं।

श्रीऋषभदेवजी इस छठी भूमिकामें स्थित माने जा सकते हैं।

७—तुर्यगा

भूमिषट्कचिराभ्यासाद् भेदस्यानुपलम्भतः।
युत्स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः॥

(योगवासिष्ठ, उत्पत्ति० ११८। १५)

'उपर्युक्त छहों भूमिकाओंके सिद्ध हो जानेपर स्वाभाविक चिरकालतक अभ्यास होनेसे जिस अवस्थामें दूसरोंके द्वारा प्रयत्नपूर्वक प्रेरित करनेपर भी भेदरूप संसारकी सत्ता-स्फूर्तिकी उपलब्धि नहीं होती, वरं एकमात्र अपने आत्मभावमें स्वाभाविक निष्ठा रहती है, उस स्थितिको उसके अन्तःकरणकी 'तुर्यगा' भूमिका जानना चाहिये।'

छठी भूमिकाके पश्चात् सातवीं भूमिका स्वतः ही हो जाती है। उस ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी महात्मा पुरुषके हृदयमें संसारका और शरीरके बाहर-भीतरके लौकिक ज्ञानका अत्यन्त अभाव हो जाता है; क्योंकि उसके मन-बुद्धि ब्रह्ममें तद्रूप हो जाते हैं, इस कारण उसकी व्युत्थानावस्था तो न स्वतः होती है और न दूसरोंके द्वारा प्रयत्न किये जानेपर ही होती है। जैसे मुर्दा जगानेपर भी नहीं जाग सकता, वैसे ही यह मुर्देकी भाँति हो जाता है। अन्तर इतना ही रहता है कि मुर्देमें प्राण नहीं रहते और इसमें प्राण रहते हैं तथा यह श्वास लेता रहता है। ऐसे पुरुषका संसारमें जीवन-निर्वाह दूसरे लोगोंके द्वारा केवल उसके प्रारब्धके संस्कारोंके कारण ही होता है वह प्रकृति और उसके कार्य सत्त्व, रज, तम—तीनों गुणोंसे और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओंसे अतीत होकर ब्रह्ममें विलीन रहता है, इसलिये यह उसके अन्तःकरणकी अवस्था 'तुर्यगा' भूमिका कही जाती है।

ब्रह्मकी दृष्टिमें संसारका अत्यन्त अभाव है। उपर्युक्त महात्मा पुरुष उस सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको नित्य ही प्राप्त है। अतः उसके मन-बुद्धिमें भी शरीर और संसारका अत्यन्त अभाव है। इसलिये ऐसे पुरुषको 'ब्रह्मविद्वरिष्ठ' कहते हैं।

ऐसे ही ब्रह्मविद्वरिष्ठ महापुरुषसे वार्तालाप न होनेपर भी उसके दर्शन और चिन्तनसे ही मनुष्यके चित्तमें मल, विक्षेप और आवरणका नाश होनेसे उसकी वृत्ति परमात्माकी ओर आकृष्ट होनेपर उसका कल्याण हो सकता है।

इसलिये अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्योंको विवेक-वैराग्य-पूर्वक सच्चिदानन्दघन परमात्माके ध्यानमें निरन्तर स्थित रहनेके लिये तत्परतासे प्रयत्न करना चाहिये।

ज्ञान और भक्तिके साधनसे अहंता-ममताका अभाव

मनुष्यके पास जितनी अधिक सम्पत्ति और जितना अधिक कुटुम्ब है, उतना ही अधिक बन्धन है। मान लीजिये, किसी एक आदमीके पास सैकड़ों मिलें, खदानें हैं, सैकड़ों आफिस और दूकानें हैं, सैकड़ों मकान हैं, करोड़ों रुपये लोगोंमें जमा हैं, कुटुम्ब भी बहुत बड़ा है, किंतु उनमेंसे किसी एक मिलके या कोयलेकी खदानके आग लग गयी या किसी मिलमें भारी नुकसान लगकर फर्म फेल हो गया या कुटुम्बमें अपना निकटवर्ती पुरुष या अपना लड़का या स्त्री—कोई मर गया अथवा किसी फर्मके दिवालिया होनेसे अपने बीस लाख रुपये उसमें डूब गये या किसी मिल या मकानको सरकारने अपने अधिकारमें कर लिया तो इनमेंसे प्रत्येक घटना ममताके कारण उसे दुःख देनेवाली

ही होती है। वह बेचारा रात-दिन इन सबकी चिन्ताग्निमें जलता रहता है; किंतु जिस मनुष्यके पास कुछ नहीं है, उसका क्या नुकसान होगा और यदि थोड़ा है तो थोड़ा नुकसान होगा। जैसे एक सच्चे साधु हैं, उनके पास एक कमण्डलु है,घास-फूसकी झोपड़ी है, एक-दो ओढ़ने-बिछानेका कपड़ा है। उनका कमण्डलु या कपड़ा कोई ले गया तो उनको किसीसे दूसरा मिल जाता है। कुटिया जल गयी तो दूसरी जगह जाकर बैठ जाते हैं। उनको इनकी इतनी चिन्ता नहीं होती। परंतु जिनके पास अधिक सम्पत्ति है, उनकी पदार्थोंमें अधिक ममता है और जितनी अधिक ममता है, उतना ही अधिक दुःख है।

यदि ममता नहीं है तो न बहुत सम्पत्तिवाले मनुष्यको दुःख है और न थोड़ी सम्पत्तिवालेको ही, किंतु अधिक सम्पत्ति होनेपर अधिक ममता होनेकी सम्भावना है। पर राजा जनक और अश्वपति आदि विपुल सम्पत्ति और राज्य-वैभव होते हुए भी कहीं किंचिन्मात्र भी ममता न होनेके कारण सदा सुखी रहते थे, सम्पत्ति आदिके विनाशमें भी कभी उनको दुःख नहीं होता था। वस्तुतः अहंता-ममता ही समस्त दुःखोंकी जड़ है। इसलिये देहमें अहंता और देहसे सम्बन्ध रखनेवाले प्राणियों, पदार्थोंमें तथा शरीरमें ममताका त्याग करना चाहिये।

एकदेशीय किसी भी शरीर (देह) में जो किसी भी प्रकारका अभिमान है—जैसे मैं मनुष्य हूँ, मैं साधु हूँ, गृहस्थ हूँ, ब्राह्मण हूँ, क्षत्रिय हूँ, वैश्य हूँ, यह 'अहं'भाव है। तथा देहसे सम्बन्ध रखनेवाले पदार्थों और प्राणियों तथा अपने शरीरमें जो मेरापन है—जैसे यह मेरी स्त्री है, यह मेरा पुत्र है, यह मेरी सम्पत्ति है, यह मेरी कुटिया है, यह मेरा कमण्डलु है, यह मेरी मृगछाला है आदि-आदि, यह 'मम' भाव है। ये दोनों भाव साधकके लिये बड़े ही घातक हैं। अतः इनका

त्याग करना परमावश्यक है। इनके सिवा, जिसको हम शुद्ध अहंकार कहते हैं उसका भी अन्तमें त्याग हो जाता है। **'अहं ब्रह्मास्मि'** 'मैं ब्रह्म हूँ'—इत्यादि महावाक्यके अनुसार जो ब्रह्ममें अहंबुद्धि है, वह शुद्ध अहंकार है। अद्वैतवादके सिद्धान्तके अनुसार तो यह उच्चकोटिका साधन है, किंतु इस साधनको हम उत्तम मानते हुए भी सबको इसका अधिकारी नहीं समझते, इस कारण इसे करनेके लिये हम सबको नहीं कहते। इस साधनका अधिकारी वही पुरुष है जिसका देहमें अभिमान वास्तवमें नहीं रहा है और जिसकी ब्रह्मके स्वरूपमें ही स्थिति हो गयी है। देहमें अभिमान रहते हुए इस साधनका होना और इस साधनके द्वारा परमगतिकी प्राप्ति होना कठिन है। गीतामें बतलाया गया है—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

(१२।५)

'उन सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्ममें आसक्तचित्तवाले पुरुषोंके साधनमें परिश्रम विशेष है; क्योंकि देहाभिमानियोंद्वारा अव्यक्तविषयक गति दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है।'

किंतु जो ब्रह्मभूत पुरुष हैं—ब्रह्मके स्वरूपमें जिनकी एकीभावसे स्थिति हो गयी है, उनके लिये यह साधन सुगम है। उन्हें इस साधनसे ब्रह्मकी प्राप्ति सहज ही हो सकती है। भगवान् कहते हैं—

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥

(६।२७-२८)

'क्योंकि जिसका मन भली प्रकार शान्त है, जो पापसे रहित है और जिसका रजोगुण शान्त हो गया है, ऐसे इस सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके साथ एकीभावको प्राप्त योगीको उत्तम आनन्द प्राप्त होता है। वह पापरहित योगी इस प्रकार निरन्तर आत्माको परमात्मामें लगाता हुआ अनायास ही परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप अनन्त आनन्दका अनुभव करता है।'

उस ब्रह्मभूत पुरुषके साधनकी स्थितिका वर्णन अगले श्लोकमें किया है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

(गीता ६। २९)

'सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें कल्पित देखता है।'

साधनावस्थामें यह स्थिति दो प्रकारकी होती है—(१) कल्पित और (२) अकल्पित। कल्पित स्थितिमें साधक कभी ब्रह्ममें स्थित होता है, कभी देहमें; किंतु जब ब्रह्ममें अकल्पित स्थिति हो जाती है, तब फिर वह देहमें स्थित नहीं होता। वह सदा ब्रह्ममें ही स्थित रहता है। इसके लिये यह कसौटी है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(गीता ६। ३२)

'हे अर्जुन! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।'

इस कसौटीसे कसनेपर जो खरा उतरता है, जो इस परीक्षामें उत्तीर्ण हो जाता है, उसको ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है। यह बात गीता (६। २८) में ऊपर बतला चुके हैं। सिद्ध होनेके बाद उस पुरुषकी जो कसौटी है, उसका वर्णन गीता अ० १४ श्लोक २४-२५ में देखना चाहिये—

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥

'जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित, दुःख-सुखको समान समझनेवाला, मिट्टी, पत्थर और सुवर्णमें समान भाववाला, ज्ञानी, प्रिय और अप्रियको एक-सा माननेवाला और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है, जो मान और अपमानमें सम है, मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है एवं सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित है, वह पुरुष गुणातीत कहा जाता है।'

सिद्ध पुरुषके जो ये स्वाभाविक लक्षण बतलाये गये हैं, साधकके लिये ये ही साधन हैं, इसलिये इनको लक्ष्यमें रखकर साधक पुरुषको उन सिद्ध पुरुषोंकी अन्तिम स्थितिमें स्थित होकर साधन करना चाहिये—इन लक्षणोंका अपनेमें सम्पादन करना चाहिये।

इसके लिये **'अहं ब्रह्मास्मि'** इस प्रकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अहंभावपूर्वक स्थिति रखना भी साधन है। भाव यह कि 'इस देहसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। देहमें जो अहंभाव है और इससे सम्बन्धित वस्तुओं और प्राणियोंमें जो ममभाव है, वह स्वप्नवत् है, मायामात्र है। मैं विज्ञानानन्दघन ब्रह्म हूँ, शरीर और संसारसे मेरा कोई भी सम्बन्ध

नहीं।' इस प्रकार एक विज्ञानानन्दघन ब्रह्मका भाव और उसके सिवा संसार और शरीरका अत्यन्त अभाव देखते रहना—यह अद्वैतपरक साधन है। इस साधनकी हर समय जागृति रहनी चाहिये।

जब देहमें अहंता और देहसे सम्बन्धित पदार्थोंमें ममताका अभाव हो जाता है तब देहमें कोई धर्मी नहीं रहता और धर्मीके न रहनेसे राग-द्वेषका अभाव हो जाता है एवं इच्छा, कामना आदिका अस्तित्व नहीं रहता। उसके मन और बुद्धिमें, सुख-दुःखादि भावोंमें, स्वर्ण, मिट्टी आदि पदार्थोंमें और मान-अपमान, निन्दा-स्तुति आदि दूसरेके द्वारा होनेवाली क्रियाओंमें उपर्युक्त गीता अ० १४ श्लोक २४-२५ के अनुसार पूर्ण समता आ जाती है। तब फिर '**अहं ब्रह्मास्मि**' 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा भाव भी नहीं रहता; क्योंकि वह वास्तवमें ब्रह्म ही हो जाता है और ब्रह्मकी दृष्टिमें यह शरीर और संसार है ही नहीं, तब सम्बन्ध किससे किसका हो ? वहाँ सम्बन्धका सर्वथा अभाव हो जाता है या यों समझिये कि सम्बन्धका सर्वथा विच्छेद हो जाता है।

इस प्रकार ज्ञानमार्गमें जब '**अहं ब्रह्मास्मि**' आदि महावाक्योंके अनुसार जो शुद्ध अहंभाव है, उसका भी आगे जाकर अभाव हो जाता है, तब उसकी कहीं भी ममता नहीं रहती और वह पुरुष सत्-चित्-आनन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है। भगवान्‌ने बताया है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

(गीता १८। ५४-५५)

'फिर वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित, प्रसन्न मनवाला

योगी न तो किसीके लिये शोक करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा ही करता है। ऐसा समस्त प्राणियोंमें समभाववाला योगी मेरी पराभक्तिको प्राप्त हो जाता है। उस पराभक्तिके द्वारा वह मुझ परमात्माको मैं जो हूँ और जैसा हूँ ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्वसे जान लेता है तथा उस भक्तिसे मुझको तत्त्वसे जानकर तत्काल ही मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।'

अहंताके साथ ही उसकी ममताका भी नाश हो जाता है। पहले जब ब्रह्मके स्वरूपमें स्थिति होती है, तब तो उसमें यह शुद्ध अहंकार रहता है कि मैं शरीर नहीं, निर्गुण-निराकार नित्य विज्ञानानन्दघन ब्रह्म हूँ। अर्थात् उसकी देहमें आत्मबुद्धि हटकर ब्रह्ममें आत्मबुद्धि हो जाती है, किंतु बादमें जब उपर्युक्त साधनके द्वारा उसको पराभक्तिरूप परम ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है तब वह ब्रह्ममें विलीन हो जाता है।

इसी प्रकार भक्तियोगी साधकोंको अहंता-ममताका त्याग करके भक्तियोगका साधन करना चाहिये। देह मैं हूँ और देहसे सम्बन्ध रखनेवाले कुटुम्बी और सांसारिक पदार्थ मेरे हैं—यह अभिमान साधकके लिये साधनमें विघ्न है। मनुष्यको जाति, वर्ण, आश्रम, कुटुम्ब बुद्धि, बल, गुण, आचरण आदि किसी प्रकारका भी अभिमान नहीं करना चाहिये। जैसे—मैं ब्राह्मण हूँ, ऊँची जातिका हूँ, विद्वान् हूँ, साधु हूँ, ज्ञानी भक्त हूँ, महात्मा हूँ, बुद्धिमान् हूँ, सद्गुणी-सदाचारी हूँ, मेरा बड़ा भारी कुटुम्ब है, मेरी स्त्री पतिव्रता है, मेरा पुत्र मातृ-पितृ-भक्त है, मेरे बड़ी-बड़ी मिलें हैं, अनेक मकान हैं, मेरे समान धनी नहीं, बलवान् नहीं, गुणी नहीं, सदाचारी नहीं, श्रेष्ठ नहीं, यों किसी भी प्रकारका अभिमान होना साधनमें महान् विघ्नरूप और खतरेकी चीज है।

इसके सिवा जो शुद्ध अहंता-ममता है, उसका भी अन्तमें त्याग हो जाता है। जैसे—मैं भक्त हूँ, मैं साधक हूँ—यह शुद्ध अहंकार है। यथा—

अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥

इस प्रकार मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं—यह शुद्ध ममता है। यह शुद्ध अहंता-ममता भी आगे जाकर नहीं रहती। अतः साधकको मैं साधक हूँ, भगवान्‌का भक्त हूँ—यह अभिमान भी नहीं रखना चाहिये, किंतु लोग उसको भक्त कहते हैं, महात्मा कहते हैं, धर्मात्मा कहते हैं, इसलिये लोगोंकी दृष्टिमें उनकी मान्यताके अनुसार, उनके विश्वासके अनुसार आचरण करना चाहिये, जैसे कि राजा युधिष्ठिरने यक्षके प्रति कहा था। जब उन्होंने यक्षके पूछे हुए सब प्रश्नोंका यथावत् उत्तर दे दिया, तब यक्षने उनसे पूछा—'राजन्! तुम महाबलशाली भीमसेन और अर्जुनको छोड़कर नकुलको क्यों जिलाना चाहते हो?' इसपर युधिष्ठिरने कहा—

धर्मशीलः सदा राजा इति मां मानवा विदुः।
स्वधर्मान्न चलिष्यामि नकुलो यक्ष जीवतु॥

(महा० वन० ३१३। १३०)

'यक्ष! मेरे विषयमें लोग सदा ऐसा समझते हैं कि राजा युधिष्ठिर धर्मात्मा हैं, अतएव मैं अपने धर्मसे विचलित नहीं होऊँगा। इसलिये मेरा भाई नकुल जीवित हो जाय।'

'क्योंकि मेरे पिताके कुन्ती और माद्री दो पत्नियाँ रहीं—उनमें कुन्तीका पुत्र मैं जीवित हूँ और माद्रीका पुत्र नकुल जीवित हो जाय तो वे दोनों पुत्रवती बनी रहें। मैं दोनों माताओंके प्रति समान भाव रखना चाहता हूँ—यह मेरा धर्म है।'

अतएव साधक यह भाव रखें कि मैं वास्तवमें भक्त और उच्च-कोटिका साधक नहीं हूँ, बनना चाहता हूँ, लोग मुझको भक्त या उच्चकोटिका साधक मानते हैं, किंतु मुझमें बड़ी कमी है, मुझे वैसा

बनना चाहिये, वैसा ही आचरण करना चाहिये। मैं तो भगवान्‌के दासोंका दासानुदास हूँ, उनका नाममात्रका किंकर हूँ, जैसा कि हनुमान्‌जी ने कहा है—

एकु मैं मंद मोहबस कुटिल हृदय अग्यान।
पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ दीनबंधु भगवान॥
जदपि नाथ बहु अवगुन मोरें। सेवक प्रभुहि परै जनि भोरें॥
नाथ जीव तव मायाँ मोहा। सो निस्तरइ तुम्हारेहिं छोहा॥
ता पर मैं रघुबीर दोहाई। जानउँ नहिं कछु भजन उपाई॥
सेवक सुत पति मातु भरोसें। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसें॥

(रा० च० मा० किष्किन्धा० २। १-२)

जब हनुमान्‌जी भरतजीसे मिले हैं, उस समय भरतजीने पूछा—

को तुम्ह तात कहाँ ते आए। मोहि परम प्रिय बचन सुनाए॥

तब हनुमान्‌जी उत्तरमें कहते हैं—

मारुतसुत मैं कपि हनुमाना। नामु मोर सुनु कृपानिधाना॥
दीनबंधु रघुपति कर किंकर। .....

(रा० च० मा० उत्तर० १। ४-५)

अतः यह समझना चाहिये कि 'मैं भगवान्‌के दासानुदासकी श्रेणीमें आ जाऊँ तो मेरा बड़ा अहोभाग्य है। अर्थात् भगवान्‌के दास हैं हनुमान्‌जी, मैं उनका भी दास बनकर रहूँ तो मेरा अहोभाग्य है, फिर दास होनेकी तो बात ही क्या है ? पर मैं ऐसा हूँ नहीं, होना चाहता हूँ। लोग मुझे भक्त कहते हैं, यह मेरे लिये लज्जाकी बात है।' यह तो है उस भक्तके हृदयके भावकी बात और बाहरमें लोग जैसा उसे मानते हैं वैसा ही वह सदाचरण करता है। वह समझता है कि जैसा लोग मुझे मानते हैं, उसीको स्वाँगका रूप समझकर भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये

ठीक उसी प्रकार बरतना है। किंतु वास्तवमें कहीं भी यह अभिमान नहीं करना है कि मैं ब्राह्मण हूँ, क्षत्रिय हूँ, वैश्य हूँ, साधु हूँ, गृहस्थ हूँ, सद्गुणी-सदाचारी हूँ, श्रेष्ठ हूँ, भक्त हूँ इत्यादि।

मैं भक्त हूँ, अमुक भक्त नहीं है—यों दूसरोंकी अपेक्षा अपनेमें अच्छेपनका अभिमान आ जाय तो वह साधनमें बाधा है। भगवान् मेरे ही स्वामी हैं और मैं ही उनका सेवक हूँ—यह भाव न रखकर सब भगवान्‌के हैं और भगवान् सबके स्वामी हैं— वे मेरे भी स्वामी हैं— यह भाव रखना अच्छा है। इसकी अपेक्षा भी यह भाव और अच्छा है कि सब भगवान्‌के स्वरूप हैं या सबमें भगवान् विराजमान हैं, इसलिये सबकी सेवा ही भगवान्‌की सेवा है।

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

(रा० च० मा० किष्किन्धा० ३)

यह बड़ा उत्तम भाव है । मैं सबका सेवक हूँ, तुच्छ हूँ, सब मेरे स्वामी हैं, मैं उनके चरणोंकी धूलके समान हूँ— इस प्रकारके भावसे आगे जाकर शुद्ध अहंकार भी मिट जाता है और यह भाव आ जाता है कि मैं कुछ भी नहीं हूँ, केवल भगवान् ही हैं। उसे अपना ज्ञान भी नहीं रहता है, केवल भगवान्‌का ही ज्ञान रहता है, उसमें अहंता-ममताका अभाव हो जाता है। फिर उसकी सारी चेष्टा भगवान्‌के संकेतके अनुकूल, अपने-आप ही होती रहती है। उसका 'करना 'होने' में बदल जाता है। जैसे कठपुतली सूत्रधार जैसे नचाता है वैसे ही नाचती है, वैसे ही उसकी सारी क्रियाएँ नचानेवाले सूत्रधारकी कठपुतलीकी तरह होती है। कठपुतलीमें तो अन्तःकरण नहीं है और इसमें अन्तःकरण होते हुए भी काठकी कठपुतलीकी-ज्यों चेष्टा होती

है। इसमें कठपुतलीकी अपेक्षा मन-बुद्धि विशेष होनेके कारण मनमें परमात्माका चिन्तन और बुद्धिमें परमात्माका निश्चय विशेषरूपसे रहते हैं। यही असली भक्ति है, यही असली शरणागति है। उस कठपुतलीका अपनी हार-जीतसे भी कोई सम्बन्ध नहीं रहता, उसी प्रकार साधकका भी किसी साधनके फलसे सम्बन्ध नहीं रहना चाहिये। उसे तो अपनी सम्पूर्ण क्रियाओं, उनके फलों और अपने-आपको भी भगवान्‌के अर्पण कर देना चाहिये। भगवान्‌ने गीतामें बताया है—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(१२।६-७)

'परंतु जो मेरे परायण रहनेवाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही अनन्य भक्तियोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं, हे अर्जुन! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ।'

वह भक्त सदा-सर्वदा कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता और भगवान्‌की कृपासे भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥

(गीता १८।५६)

'मेरे परायण हुआ कर्मयोगी भक्त तो सम्पूर्ण कर्मोंको करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है।'

इसलिये भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको वैसा ही बननेकी आज्ञा देते हैं—

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥

(गीता १८। ५७)

'सब कर्मोंको मुझमें अर्पण करके तथा समबुद्धिरूप योगको अवलम्बन करके मेरे परायण हुआ निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो।'

उपर्युक्त प्रकारसे साधन करते-करते जब मनुष्य भगवान्‌के सर्वथा शरण हो जाता है, तब उसकी अहंता-ममताका सर्वथा अभाव होकर उसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है और वह फिर पूर्णतया गीता अ० १२ श्लोक १३-१४ के अनुसार भगवान्‌का ज्ञानी भक्त बन जाता है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

(गीता १२। १३-१४)

'जो पुरुष सब भूतोंमें द्वेषभावरहित, स्वार्थभावरहित, सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित, अहंकारसे रहित, सुख-दुःखकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करनेवालोंको भी अभय देनेवाला है तथा जो योगी निरन्तर संतुष्ट है, मन-इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए है और मुझमें दृढ़ निश्चयवाला है, वह मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझे प्रिय है।'

यह भगवान्‌को प्राप्त पुरुषकी कसौटी है। इस प्रकार भगवान्‌का

साधक भक्त अनन्यभक्तिके द्वारा नेत्रोंसे भगवान्‌का साक्षात् दर्शन पाकर और शुद्ध (पवित्र) बुद्धिद्वारा भगवान्‌को यथार्थरूपसे तत्त्वतः जानकर भगवान्‌में प्रवेश कर जाता है।

गीतामें भगवान् भी कहते हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

(११।५४-५५)

'परंतु हे परंतप अर्जुन! अनन्यभक्तिके द्वारा इस प्रकार रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ। हे अर्जुन! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियोंमें वैरभावसे रहित है, वह अनन्यभक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है।'

इस प्रकार ज्ञानके मार्गमें तो 'मैं साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा हूँ।' यों बड़े-से-बड़ा बनकर अहंकारका नाश करना है और भक्तिके मार्गमें 'मैं सबका सेवक हूँ, दासानुदास हूँ, किंकर हूँ, सबके चरणोंकी धूलि हूँ, कुछ भी नहीं हूँ'—यों छोटे-से-छोटा बनकर अहंकारका नाश करना है। सबसे पहले देश, जाति, वर्ण, आश्रम आदि सांसारिक अहंकारका नाश करना है, फिर अन्तमें मैं भक्त हूँ, साधक हूँ, इस शुद्ध अहंकारका भी नाश हो जाता है। ज्ञानके मार्गमें तो यथार्थ ज्ञानसे सब प्रकारके अहंकारका नाश होता है और भक्तिके मार्गमें भगवान्‌की कृपासे सब प्रकारके अहंकारका नाश होता है। इन दोनों ही साधनोंसे अहंता -

ममताका नाश होनेपर उस पुरुषके कर्म अकर्म हो जाते हैं। उसका करना होनेमें बदल जाता है। एवं दोनों ही प्रकारके साधकोंको परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। अन्तिम फल दोनोंका एक ही है (देखिये गीता १८। ५४-५५ एवं ११। ५४-५५)।

किंतु बाहरमें उसका व्यवहार वैसा ही होता है जैसा उच्चकोटिके सात्त्विक साधकका व्यवहार होता है। लौकिक दृष्टिमें वह ब्रह्मचारी या साधु या गृहस्थ जो भी है, उस स्वाँगके अनुसार उसका श्रेष्ठ ब्रह्मचारी, श्रेष्ठ साधु या श्रेष्ठ गृहस्थका व्यवहार होता है। उसमें स्वाभाविक ही कोई दोष नहीं आते, वह अपने स्वाँगको नहीं लजाता। इस विषयमें एक छोटी-सी कहानी है—

एक बहुरूपिया था। वह अपने स्वाँगको पूरी तरह पेश उतारा करता था, उसमें किंचिन्मात्र भी कहीं दोष नहीं आने देता था। एक दिन वह राजाके पास गया और इनाम पानेके उद्देश्यसे उसने राजासे कहा—'महाराज! आप कौन-सा स्वाँग देखना चाहते हैं?' राजा बोले—'तुम केशरी सिंहका स्वाँग लाओ।' बहुरूपियेने निवेदन किया—'सिंहका स्वाँग लानेके लिये न कहिये, यह स्वाँग बड़ा क्रूर है। जब सिंहके रूपमें मैं आऊँगा, तब सिंहके स्वभावके अनुकूल ही चेष्टा करूँगा, उसमें कोई दोष या त्रुटि नहीं आने दूँगा। स्वाँगको नहीं लजाऊँगा। उस समय यदि स्वाँगकी रक्षाके लिये मुझसे कोई अपराध हो जाय तो उसे आप क्षमा कर देंगे।' राजाने कहा—'बहुत अच्छा, स्वाँगकी रक्षाके लिये तुमसे कोई अपराध होगा तो वह क्षम्य समझा जायगा। तुम सिंहका स्वाँग लाओ।' यह बात सारे शहरमें फैल गयी। इससे शहरके सब लोग सचेत हो गये।

दूसरे दिन वह सिंह बनकर गर्जता, दहाड़ता हुआ बाजारको

लाँघकर राजदरबारमें पहुँचा। शहर और सभाके सभी लोग चुपचाप स्तम्भित हुए-से उसको देखते रहे, किंतु राजाके एक छोटे-से लड़केने 'मैं राजकुमार हूँ' इस अभिमानमें आकर सिंहकी गुदामें एक दातुन घुसा दिया, तब सिंहने दुहत्थीसे—आगेके दोनों पंजोंसे उस राजकुमारपर ठीक सिंहकी भाँति प्रहार किया, जिससे उसके प्राण निकल गये । सिंह दहाड़ता हुआ वापस लौट गया।

राजकुमारकी मृत्यु हो जानेसे राजपरिवार और राजसभाके सदस्योंको बड़ा ही दुःख और क्षोभ हुआ। दूसरे दिन वह बहुरूपिया भी अपने असली रूपमें आया। उसने खूब दुःख प्रकट किया और निवेदन किया कि 'महाराज ! इसीलिये मैं आपसे प्रार्थना करता था कि सिंहका स्वाँग लानेके लिये न कहिये। मुझसे बड़ा भारी अपराध बन गया, जो मैं राजकुमारकी मृत्युमें कारण बना। अब तो मैं बहुरूपिया हूँ, अब आप मेरा चाहे जितना अपमान करें, दण्ड दें, किंतु उस समय मैं केशरी सिंहके स्वाँगमें था, केशरी सिंहके स्वभावके अनुसार चेष्टा कर रहा था। आप बतलाइये यदि कोई केशरी सिंहकी गुदामें दातुन घुसा दे तो उसे केशरी सिंह कैसे बरदाश्त कर सकता है ? मैं स्वाँगको नहीं लजाता, स्वाँगको लजाऊँ तो न तो मैं स्वाँगको ही सफल बना सकता हूँ, न जी ही सकता हूँ। मैं भगवान्‌का उपासक हूँ। उन्हींकी कृपासे मेरा स्वाँग सफल होता है और मुझे उसमें विजय प्राप्त होती है।' राजा यह सब सुन रहे थे, किंतु उनके हृदयमें राजकुमारकी मृत्युके कारण बहुत दुःख और क्षोभ था, पर वे वचनबद्ध होनेके कारण कुछ भी कर न सके। बहुरूपियेने पूछा—'महाराज ! अब दूसरा कौन-सा स्वाँग लाऊँ ?' इसपर राजकुमारके मरणशोकसे दुःखित मन्त्रीने कहा—'तुम महात्मा शुकदेवजीका स्वाँग लाओ।' बहुरूपिया चला गया और पंद्रह

दिन बाद श्रीशुकदेवजीके ही-जैसा एक उच्चकोटिके ज्ञानी महात्माका स्वाँग बनाकर निकला और शहरके किनारे, उत्तरकी ओर बालूके टीलेपर जाकर बैठ गया। इससे शहरमें तुरंत यह खबर फैल गयी कि एक बहुत बड़े उच्चकोटिके महात्मा बालूके टीलेपर बैठे हैं। यह जानकर दर्शनार्थियोंकी वहाँ भीड़ लग गयी। जब यह खबर मन्त्रीने सुनी तो उन्होंने राजासे कहा—'राजन्! मेरी समझमें वह बहुरूपिया ही स्वाँग धरकर आया है, राजकुमारको मारनेका मेरे हृदयमें बहुत भारी दुःख था और है, इस उद्देश्यसे ही मैंने उसे शुकदेवजीका स्वाँग लानेको कहा था। यह स्वाँग बहुत कठिन है, इससे वह कहीं इसे लजा दे तो इसे दण्ड दिया जा सकता है, अतः आप भी मेरे साथ उसका दर्शन करने चलिये ताकि उसको विशेष लोभ देकर स्वाँगके स्वरूपसे विचलित किया जाय।' यों बातचीत करके वे दोनों वहाँ गये, मन्त्री और राजाने महात्माको नमस्कार किया और उनके चरणोंमें रत्नों और सोनेकी मुहरोंकी थैलियाँ रख दीं, वे महात्मा उन थैलियोंकी अवहेलना करके झट वहाँसे उठकर जंगलकी ओर चल दिये। मन्त्री उनके पीछे-पीछे गये। जब एकान्त स्थान आ गया, तब मन्त्रीने उनके कानमें कहा—'तू बहुरूपिया है, महात्मा शुकदेवजीका स्वाँग लेकर आया है, यह मैं जानता हूँ। इन थैलियोंमें कई लाख रुपयोंका धन है, अतः मेरा यह अनुरोध है कि तू यह सब द्रव्य स्वीकार कर ले, फिर हम दोनों आधा-आधा बाँट लेंगे।' उस महात्माके रूपमें आये हुए बहुरूपियेने मन्त्रीकी बात बिलकुल अनसुनी कर दी और विरक्तभावसे जंगलमें चला गया। तब राजा और मन्त्री लौट आये।

दो दिन बाद फिर वह बहुरूपिया राजभवनमें आया और बोला—'महाराज! शुकदेवजीका स्वाँग आपको कैसा लगा?' राजाने कहा—'बहुत अच्छा'। तब बहुरूपियेने फिर पूछा—'अब कौन-सा स्वाँग

लाऊँ ?' वहाँ राजाका भक्त एक नाई था। उसने सोचा, 'इसने राजकुमारकी हत्या कर दी—यह इसका बड़ा अपराध है, इसे विशेष दण्ड मिलना चाहिये।' यह सोचकर उसने कहा—'पतिव्रता सतीका स्वाँग लाओ।' राजा और मन्त्रीने भी इसका समर्थन किया। बहुरूपिया इसे सहर्ष स्वीकार करके घर चला गया।

कुछ दिनों बाद उसने देखा एक मुर्दा तैरता हुआ नदीके किनारे आ लगा है, वह उसे घरपर ले गया। उसने पतिके रूपमें उसे सजाकर स्वयं सोलह शृङ्गारोंसे सम्पन्न पतिव्रता सती स्त्रीका स्वाँग बनाया और पतिकी वैकुण्ठी बनाकर बड़ी धूमधाम और गाजे-बाजेके साथ बजारमें होते हुए श्मशान जानेके लिये जुलूस निकाला। यह खबर तुरंत सारे शहरमें फैल गयी। हजारों नर-नारी उस मुर्देके साथ होकर श्मशान-घाटपर गये। जब यह समाचार मन्त्रीको मिला तब उसने राजासे कहा—'यह वही बहुरूपिया है, पतिव्रता सतीका स्वाँग लेकर आया है, मैं इसे जलानेका प्रबन्ध करनेके लिये स्वयं जाता हूँ।' यों कहकर मन्त्री बहुत-से आदमियोंको लेकर मरघटपर गये। करीब सौ मन काठका ढेर लगवाकर चिता बनवा दी। वह पतिव्रता सती स्त्री अपने पतिके शवको गोदमें लेकर चितामें भस्म होनेके लिये बैठ गयी। चिताके चारों ओर आग लगा दी गयी। उसी समय बड़े जोरसे आँधी-तूफान आया। उसके कारण मन्त्री, मन्त्रीके साथ आये हुए आदमी तथा शहरके सब लोग वहाँसे भाग गये। आँधीके साथ घोर वर्षा होने लगी। वर्षा इतने जोरसे हुई कि उसने चिताकी धधकती हुई लपटोंको शान्त कर दिया। तब वह बहुरूपिया चिताके उस ओरसे, जिस ओर आग नहीं लग पायी थी, नीचे उतर पड़ा और उसने फिर चिताके चारों ओर

आग प्रज्वलित कर दी। तदनन्तर वह अपने घर लौट गया। उस अग्निसे वह मुर्दा भस्म हो गया। दूसरे दिन मन्त्री और राजाने जाकर देखा—वहाँ भस्म और मुर्देकी हड्डीके सिवा कुछ नहीं है।

कुछ ही दिनों बाद वह बहुरूपिया अपने रूपमें राजभवनमें आया और बोला—'महाराज ! सतीका स्वाँग कैसा रहा ?' राजाने कहा—'बहुत अच्छा।' राजाने फिर पूछा—'तुम जीते कैसे रहे ?' उसने कहा—'महाराज ! मैं स्वाँग नहीं लजाता, इसलिये भगवान् मेरी रक्षा करते हैं। मैं स्वर्गमें गया था, आपके पिता-पितामहसे भी मिला था, उनके दाढ़ी-मूँछ, नख बड़े-बड़े हो रहे थे। मैंने उनसे पूछा था कि आप सब सकुशल हैं न ? कोई कष्ट तो नहीं है न ? आपका क्या संदेशा राजासे कहूँ ?' उन्होंने कहा—'यहाँ और सब तो आनन्द है, केवल नाईका कष्ट है, एक नाईको यहाँ भेज देना।' यह सुनकर राजाने उसी नाईसे कहा—'तुम जाकर उनकी सेवा करो।' मन्त्रीने नाईसे कहा—'जैसे यह स्वर्गमें गया, वैसे ही तुम कल स्वर्गमें जाओ।' तब नाईने बहुरूपियेको अलग ले जाकर कहा—'तुम मुझे क्यों मरवाते हो ?' बहुरूपियेने उत्तर दिया—'तुमने ही मेरी अनिष्ट-कामना की थी, मेरे विनाशके लिये सतीका स्वाँग लानेके लिये कहा था, इसीलिये मैं तुमको भेजता हूँ। जो मनुष्य दूसरेके अनिष्टके लिये चेष्टा करता है, उसका अपना ही अनिष्ट होता है।' नाईने कहा—'मेरा अपराध क्षमा करो, मैं तुम्हारे शरण हूँ, मुझे इस घोर विपत्तिसे बचाओ।'

तब बहुरूपियेने राजसभामें आकर राजाके सामने मन्त्रीसे आदिसे अन्ततक सब सच्ची-सच्ची घटना सुना दी कि 'मैं स्वाँग नहीं लजाता, अतः भगवान् मेरी सब प्रकारसे रक्षा करते हैं। जब आपलोग चितामें आग लगाकर आँधी-वर्षाके भयके कारण चले आये, तब बड़े जोरसे

वर्षा हुई, जिससे आग शान्त हो गयी और मैं बच गया। फिर मैंने चिताके चारों तरफ आग लगा दी जिससे वह मुर्दा जल गया। स्वर्गमें जाकर कोई वापस नहीं आ सकता, मैं तो भगवान्‌की कृपासे बच गया था, इस बेचारे नाईके प्राण नहीं लेने चाहिये।'

इसपर राजाने उससे कहा—'तुम्हारे स्वाँगसे हम बहुत प्रसन्न हैं। जो घटना होनेवाली थी, वह हो गयी। अब तुमको उसका कोई शोक नहीं करना चाहिये।' यों कहकर राजाने प्रसन्नतापूर्वक उस बहुरूपियेको हजारों रुपयोंका इनाम दिया, वह इनाम लेकर अपने घर चला गया।

इस कहानीसे एक तो यह शिक्षा मिलती है कि ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास—जिस किसी आश्रममें और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—जिस किसी वर्णमें मनुष्य हो, उसे अपना स्वाँग नहीं लजाना चाहिये। जो स्वाँग नहीं लजाता, उसकी भगवान् सब प्रकारसे रक्षा करते हैं; जैसे भगवान्‌ने उस बहुरूपियेकी रक्षा की। एवं दूसरी यह शिक्षा मिलती है कि दूसरेके अनिष्टका चिन्तन कभी नहीं करना चाहिये, नहीं तो, जैसे नाईको भय प्राप्त हुआ, वैसे भय प्राप्त हो सकता है।

अतएव उपर्युक्त विवेचनसे यह समझना चाहिये कि ज्ञानी महात्मा पुरुष लोकसंग्रहके लिये स्वाँगकी भाँति काम करते हैं। लोग उनको जिस वर्ण, आश्रममें समझते हैं, उनके सामने वे वैसा ही आचरण करते हैं। अपना असली परिचय अपने अन्तरङ्ग लोगोंके सिवा अन्य किसीको नहीं देते। किंतु जो व्यक्ति 'मैं ज्ञानी हूँ, महात्मा हूँ, योगी हूँ महापुरुष हूँ, अधिकारी पुरुष हूँ'—ऐसा कहते हैं, वे वास्तवमें योगी, ज्ञानी, महात्मा आदि नहीं हैं, वे तो मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा-सेवाके किङ्कर, दम्भी, पाखण्डी हैं। जो श्रेष्ठ पुरुष होते हैं, वे कञ्चन-कामिनीके लोभसे या अपनी मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा बढ़ानेके लिये दूसरेकी अपनेमें श्रद्धा

बढ़ानेके हेतु नहीं बनते; क्योंकि उनको न कुछ करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है और न कुछ न करनेसे ही प्रयोजन रहता है। उनमें स्वार्थका अत्यन्त अभाव हो जाता है। गीतामें भगवान्‌ने बतलाया है—

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥

(३।१८)

'उस महापुरुषका इस विश्वमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मोंकि न करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें भी इसका किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता।'

अतः परमात्माकी प्राप्तिके लिये मनुष्यको ज्ञान या भक्तिके साधनद्वारा अहंता-ममताका अत्यन्त अभाव करना चाहिये।

समताका स्वरूप और महिमा

परमात्माकी प्राप्तिके कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग आदि साधनोंकी सिद्धिमें समता ही मुख्य है। समता ही उच्चतम जीवनकी कसौटी है और समता ही उत्तम-से-उत्तम गुण (भाव) है एवं परमात्माका स्वरूप भी सम है (गीता ५।१९)।

राग-द्वेषका सर्वथा अभाव या समता एक ही वस्तु है। अपने शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और सिद्धान्तके अनुकूल क्रिया, पदार्थ, प्राणी, भाव और परिस्थितिकी प्राप्तिमें राग (आसक्ति) होकर उससे काम, लोभ, हर्ष आदि होते हैं एवं अपने शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और सिद्धान्तके प्रतिकूल क्रिया, पदार्थ, प्राणी, भाव और परिस्थितिकी प्राप्तिमें द्वेष होकर उससे वैर, उद्वेग, ईर्ष्या, क्रोध, चिन्ता, भय आदि होते

हैं। इनमें राग-द्वेष ही दुर्गुण-दुराचाररूप सारे अनर्थोंके मूल कारण हैं। राग-द्वेषके नाशसे ही उपर्युक्त सारे विकारोंका नाश होता है। राग-द्वेषका मूल कारण है अहंता-ममता और अहंता-ममताका मूल कारण है अज्ञान। इस अज्ञानके नाशसे सारे दोषोंका नाश हो जाता है। इस अज्ञानका नाश होता है ज्ञानसे और उस ज्ञानकी प्राप्ति होती है कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग आदि साधनोंसे एवं सत्पुरुषोंके सङ्गसे।

कर्मयोगसे ज्ञानकी प्राप्ति भगवान्‌ने गीतामें इस प्रकार बतलायी है—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥

(४।३८)

'इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निस्संदेह कुछ भी नहीं है। उस ज्ञानको कितने ही कालसे कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मामें पा लेता है।'

यहाँ जो यह कहा गया कि कुछ समयतक निष्कामभावसे कर्म करते-करते कर्मयोगकी सिद्धि होनेपर परमात्मविषयक यथार्थ ज्ञान अपने-आप ही हो जाता है, इससे कर्मयोगके द्वारा ज्ञानकी प्राप्ति बतलायी गयी है।

भगवान्‌ने गीतामें भक्तियोगसे ज्ञानकी प्राप्ति यों बतलायी है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(१०।१०-११)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले

भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं। अर्जुन ! उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञान—यथार्थज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ।'

इसी प्रकार भगवान्‌ने गीता अ० १८ श्लोक ५० में ज्ञानकी परानिष्ठाका वर्णन करनेका संकेत करके ५१ वेंसे ५३ वेंतक ज्ञान-निष्ठाकी प्राप्तिके उपाय बतलाये और फिर ५४ वें ५५ वें श्लोकोंमें उसका फल ज्ञानकी प्राप्ति बतलाया—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

(गीता १८। ५४-५५)

'फिर वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित, प्रसन्न मनवाला योगी न तो किसीके लिये शोक करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा ही करता है, ऐसा समस्त प्राणियोंमें समभाववाला योगी मेरी पराभक्ति (तत्त्वज्ञान) को प्राप्त हो जाता है। उस पराभक्ति (तत्त्वज्ञान) के द्वारा वह मुझ परमात्माको मैं जो हूँ और जितना हूँ, ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्वसे जान लेता है तथा उस तत्त्वज्ञानसे मुझको तत्त्वसे जानकर तत्काल ही मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।'

यहाँ उपर्युक्त ज्ञाननिष्ठाके साधनोंका फल ज्ञानकी प्राप्ति बतलाया गया है, अतः इससे ज्ञानयोगके साधनके द्वारा यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिका वर्णन किया गया है।

ऐसे ही, सत्पुरुषोंके सङ्गसे ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है। भगवान् कहते हैं—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥

(गीता ४ । ३४-३५)

'उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ; उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और सरलता-पूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे, जिसको जानकर तू फिर इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा तथा अर्जुन ! जिस ज्ञानके द्वारा तू सम्पूर्ण भूतोंको निःशेषभावसे पहले अपनेमें और पीछे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखेगा ।'

अतः कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग—सभीकी सिद्धिके लिये साधनरूपमें भी समताकी अत्यावश्यकता है । कर्मयोगकी सिद्धिमें राग-द्वेषके अभावरूप समताकी आवश्यकता दिखलाते हुए भगवान् कहते हैं—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रयैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥

(गीता २ । ६४-६५)

'परंतु अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक अपने वशमें की हुई, राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंद्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है । अन्तःकरणकी प्रसन्नता

होनेपर इसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्नचित्तवाले कर्मयोगीकी बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे हटकर एक परमात्मामें ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है।'

यह राग-द्वेषका अभावरूप समता साधनकालकी ही समता है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

(गीता २।४७)

'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलोंमें कभी नहीं। इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो।'

इस साधनसे कर्मयोगके साधककी ब्रह्ममें एकीभावसे स्थिति हो जाती है, तब उस पुरुषको 'स्थितप्रज्ञ' कहते हैं (गीता २।५५)। अतः कर्मयोगके साधकको उचित है कि सभी इन्द्रियोंके विषयोंमें जो राग-द्वेष विद्यमान है, उससे रहित होकर शास्त्रविहित कर्मोंका आचरण करे।

इसी प्रकार भक्तियोगमें भी राग-द्वेषसे रहित होनेकी बात कही गयी है—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परंतप॥
येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥

(गीता ७।२७-२८)

'भरतवंशी अर्जुन! संसारमें इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न सुख-दुःखादि द्वन्द्वरूप मोहसे सम्पूर्ण प्राणी अत्यन्त अज्ञताको प्राप्त हो रहे हैं, परंतु निष्कामभावसे श्रेष्ठ कर्मोंका आचरण करनेवाले जिन पुरुषोंका

पाप नष्ट हो गया है, वे राग-द्वेषजनित द्वन्द्वरूप मोहसे मुक्त दृढ़निश्चयी भक्त मुझको सब प्रकारसे भजते हैं।'

उससे वे परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं (गीता ७। २९-३०)।

ज्ञानयोगकी सिद्धिके लिये भी राग-द्वेषके त्यागकी आवश्यकता बतलायी गयी है—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

गीता १८। ५१—५३)

'विशुद्ध बुद्धिसे युक्त तथा हलका और सात्त्विक भोजन करनेवाला, शब्दादि विषयोंका त्याग करके एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करनेवाला, सात्त्विक धारणाशक्तिके द्वारा अन्तःकरण और इन्द्रियोंका संयम करके मन, वाणी और शरीरको वशमें कर लेनेवाला, राग-द्वेषको सर्वथा नष्ट करके भलीभाँति दृढ़ वैराग्यका आश्रय लेनेवाला तथा अहङ्कार, बल, घमंड, काम, क्रोध और परिग्रहका त्याग करके निरन्तर ध्यानयोगके परायण रहनेवाला, ममतारहित और शान्तियुक्त पुरुष सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित होनेका पात्र होता है।'

जो कर्मयोगके साधनद्वारा परमात्माको प्राप्त हो जाता है, उस सिद्ध कर्मयोगीमें सम्पूर्ण पदार्थों, भावों, क्रियाओं और प्राणियोंमें साधककी समताकी अपेक्षा विलक्षण स्वाभाविक पूर्ण समता आ जाती है। भगवान्‌ने कहा है—

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥

(गीता ६।७—९)

'सर्दी-गरमी और सुख-दुःखादिमें तथा मान और अपमानमें जिसके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ भलीभाँति शान्त हैं, ऐसे स्वाधीन आत्मावाले पुरुषके ज्ञानमें सच्चिदानन्दघन परमात्मा सम्यक् प्रकारसे स्थित हैं अर्थात् उसके ज्ञानमें परमात्माके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं। जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है, जिसकी स्थिति विकाररहित है, जिसकी इन्द्रियाँ भलीभाँति जीती हुई हैं और जिसके लिये मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण समान है, वह योगी युक्त अर्थात् भगवत्प्राप्त है—ऐसे कहा जाता है। सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओंमें और पापियोंमें भी समान भाव रखनेवाला अत्यन्त श्रेष्ठ है।'

यहाँ शीत, उष्ण, लोष्ट, अश्म, काञ्चन 'पदार्थ' हैं, सुख-दुःख 'भाव' हैं, मान-अपमान 'परकृत क्रिया'हैं और सुहृद्, मित्र, वैरी आदि 'प्राणी' हैं।

भक्तियोगके द्वारा भगवान्‌को प्राप्त हुए सिद्ध भक्तमें भी सम्पूर्ण प्राणियों, क्रियाओं, पदार्थों और भावोंमें साधककी समताकी अपेक्षा विलक्षण स्वाभाविक पूर्ण समता आ जाती है—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः ॥

(गीता १२ । १८-१९)

'जो शत्रु-मित्रमें और मान-अपमानमें सम है तथा सर्दी-गरमी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है और आसक्तिसे रहित है; एवं जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला, मननशील और जिस किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही संतुष्ट है और रहनेके स्थानमें ममता और आसक्तिसे रहित है, वह स्थिरबुद्धि भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है ।'

यहाँ भी शत्रु-मित्र 'प्राणी' हैं, मान-अपमान तथा निन्दा-स्तुति 'परकृत क्रिया' हैं, शीत-उष्ण 'पदार्थ', हैं और सुख-दुःख 'भाव' हैं ।

इसी प्रकार ज्ञानयोगके द्वारा परमात्माको प्राप्त हुए गुणातीत पुरुषमें भी सम्पूर्ण भावों, पदार्थों, क्रियाओं, परिस्थितियों और प्राणियोंमें साधककी समताकी अपेक्षा विलक्षण स्वाभाविक पूर्ण समता आ जाती है—

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥

(गीता १४ । २४-२५)

'जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित, दुःख-सुखको समान समझनेवाला, मिट्टी, पत्थर और स्वर्णमें समानभाववाला, ज्ञानी, प्रिय तथा

अप्रियको एक-सा माननेवाला और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है तथा जो मान और अपमानमें सम है, मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है एवं सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित है, वह पुरुष गुणातीत कहा जाता है।'

यहाँ भी दुःख-सुख 'भाव' हैं; लोष्ट, अश्म, काञ्चन 'पदार्थ' हैं, प्रिय-अप्रिय—ये प्राणी, पदार्थ, क्रिया, भाव और परिस्थिति सभीके वाचक हैं, निन्दा-स्तुति और मान-अपमान 'परकृत क्रिया' हैं एवं मित्र-वैरी 'प्राणी' हैं।

ये लक्षण गुणातीत पुरुषमें स्वाभाविक होते हैं और ज्ञानमार्गके साधकके लिये ये साधन हैं।

इस प्रकार कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग—सभीके द्वारा परमात्माको प्राप्त सिद्ध पुरुषोंमें सम्पूर्ण प्राणी, पदार्थ, क्रिया, भाव और परिस्थितिमें पूर्णतया समता आ जाती है, क्योंकि समताका होना सभी साधनोंसे परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषोंका एक विशेष लक्षण बतलाया गया है।

उन समदर्शी सिद्ध पुरुषोंकी समस्त प्राणियोंमें किस प्रकारकी समता होती है, इसका भगवान्‌ने और भी अधिक स्पष्टीकरण कर दिया है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

(गीता ५। १८)

'वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समदर्शी ही होते हैं।'

यहाँ उन पुरुषोंकी प्राणी आदिमें होनेवाली समताके विषयमें

गहराईसे विचार करना चाहिये। यहाँ भगवान्‌ने **'समदर्शिनः'** कहा है, **'समवर्तिनः'** नहीं। अतः उन महापुरुषोंकी सबमें समान भावसे आत्मीयता होती है। जैसे अज्ञानी मनुष्य अपने शरीरमें सर्वत्र अपने आत्माको समभावसे देखता है और उसमें सुख-दुःखको भी समान देखता है, इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष सारे प्राणियोंमें आत्माको और सुख-दुःखको समान देखते हैं (गीता ६। २९, ३२)। भाव यह कि जैसे मनुष्य अपने-आपको कभी किसी प्रकार किंचित् भी दुःख नहीं पहुँचाना चाहता और स्वाभाविक ही अपने सुखके लिये चेष्टा करता रहता है, वैसे ही वह महापुरुष सारे संसारको कभी किसी प्रकार किंचित् भी दुःख नहीं पहुँचाना चाहता और उसके द्वारा सदा सबके सुखके लिये स्वाभाविक ही चेष्टा होती रहती है।

सारे प्राणियोंके साथ बर्ताव तो समान भावसे हो भी नहीं सकता। सवारी हाथीकी ही की जा सकती है, गायकी नहीं। दूध गायका पीया जाता है, कुतियाका नहीं। मल-मूत्र आदिकी सफाईका कार्य चाण्डालसे लिया जाता है, ब्राह्मणसे नहीं। देवकर्म और पितृ-कर्मका कार्य ब्राह्मणसे ही कराया जा सकता है, चाण्डालसे नहीं। घास गाय और हाथीको ही खिलाया जा सकता है, कुत्तेको नहीं। भाव यह कि जो प्राणी जिस कार्यके योग्य होता है, उससे वही कार्य लिया जाता है। सबके साथ सम व्यवहार सम्भव नहीं है। यथायोग्य ही व्यवहार सबके साथ किया जा सकता है। इसलिये भगवान्‌ने यहाँ समदर्शनकी बात कही है, समवर्तनकी नहीं।

इसी प्रकार अपने देहके अङ्गोंमें भी सब अङ्गोंके साथ यथायोग्य ही व्यवहार होता है। मस्तकके साथ हमलोगोंका ब्राह्मणके-जैसा व्यवहार है। हम सारे अङ्गोंकी अपेक्षा मस्तककी विशेषरूपसे रक्षा

करते हैं। कोई हमें मारनेके लिये आता है और हमारे पास कोई हथियार नहीं रहता तो हम मस्तकको बचानेके लिये हाथोंकी आड़ लेते हैं। किसीको विशेष आदर देना होता है तब मस्तक ही झुकाते हैं और साधारण आदर देते हैं तो हाथ जोड़ते हैं। पैर किसीके भी स्पर्श नहीं कराये जा सकते। भूलसे भी किसीके अङ्गका अपने पैरसे स्पर्श हो जाता है तो उससे सिर झुकाकर या हाथ जोड़कर क्षमा-प्रार्थना करते हैं। यद्यपि सिर, हाथ और पैर हमारे ही अङ्ग हैं, किंतु उनसे व्यवहार यथायोग्य करना ही श्रेष्ठ और उचित माना गया है—वार्तालाप, श्रवण और दर्शन आदि उत्तम क्रियाएँ करनेवाली वाणी, श्रोत्र और नेत्र आदि इन्द्रियाँ मस्तकमें ही हैं। इसलिये मस्तकको ब्राह्मणका रूप दिया गया है। इसी प्रकार हाथोंको क्षत्रियका, जङ्घाओंको वैश्यका और चरणोंको शूद्रका रूप दिया गया है, क्योंकि परमात्माके मुखसे ब्राह्मण, भुजाओंसे क्षत्रिय, जङ्घाओंसे वैश्य और चरणोंसे शूद्र उत्पन्न हुए हैं। भक्त ध्रुवने स्तुति करते हुए कहा है—

त्वन्मुखाद् ब्राह्मणास्त्वत्तो बाहोः क्षत्रमजायत ॥
वैश्यास्तवोरुजाः शूद्रास्तव पद्भ्यां समुद्गताः ।

(विष्णुपुराण १ । १२ । ६१-६२)

यजुर्वेदमें भी बतलाया गया है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥

(३१ । ११)

'उस परमात्माका मुख ब्राह्मण है, भुजाएँ क्षत्रिय हैं तथा उसकी जो जङ्घाएँ हैं, वे वैश्य हैं और चरणोंसे शूद्र उत्पन्न हुआ है।'

अतः जैसे अपने शरीरके अङ्गोंमें भी भेदका व्यवहार होता है,

किंतु व्यवहारमें विषमता रहते हुए भी आत्मीयता समान है और उन अङ्गोंके सुख-दुःखमें भी समान भाव है; इसलिये यह समदर्शन है न कि समवर्तन; इसी प्रकार उस सिद्ध महापुरुषका भी सबके साथ यथायोग्य व्यवहार होनेके कारण व्यवहारकी विषमता रहते हुए भी सबमें आत्मीयता समान होती है, इसलिये उनके सुख-दुःखमें भी समान भाव रहता है। यह है समताका लक्षण और यही सच्चा साम्यवाद है।

गीताके साम्यवाद और आजकलके कहे जानेवाले साम्यवादमें बड़ा अन्तर है। आजकलका साम्यवाद ईश्वरविरोधी है और यह गीतोक्त साम्यवाद सर्वत्र ईश्वरका अनुभव कराता है। वह धर्मका नाशक है और यह पद-पदपर धर्मकी पुष्टि करता है। वह हिंसामय है और यह अहिंसाका प्रतिपादक है। वह स्वार्थमूलक है और यह स्वार्थको निकट ही नहीं आने देता। वह खान-पान-स्पर्श आदिमें एकता रखकर भी आन्तरिक भेद-भाव रखता है और यह खान-पान-स्पर्श आदिमें शास्त्रमर्यादानुसार यथायोग्य भेदका व्यवहार रखकर भी आन्तरिक भेद नहीं रखता एवं सबमें परमात्माको समभावसे देखनेकी शिक्षा देता है। उसका लक्ष्य केवल धनोपार्जन है और इसका लक्ष्य परम शान्तिस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति है। उसमें अपने दलका अभिमान है और दूसरोंका अनादर है, किंतु इसमें सर्वथा अभिमानशून्यता और सारे जगत्में परमात्माका अनुभव करके सबका आदर-सम्मान करना है। उसमें बाहरी व्यवहारकी प्रधानता है और इसमें अन्तःकरणके भावकी प्रधानता है। उसमें भौतिक सुख मुख्य है और इसमें आध्यात्मिक सुख मुख्य है। उसमें परधन और परमतसे असहिष्णुता है और इसमें सबका समान आदर है। उसमें राग-द्वेष है और इसमें राग-द्वेषका अत्यन्त अभाव है। इस प्रकार आजकलका साम्यवाद मनुष्यकी अवनतिका हेतु

है और गीतोक्त साम्यवाद उन्नतिका हेतु है। ऐसा समझकर मनुष्यको गीतोक्त साम्यवादको ही अपनाना चाहिये।

ऊपर बतलायी हुई साधककी समता, सिद्धकी समता और ब्रह्मके स्वरूपकी समता—इन तीनोंमें एक-दूसरेसे बहुत अन्तर है। सिद्धकी समता तो स्वाभाविक होती है, जिसका दिग्दर्शन ऊपर कराया जा चुका है; किंतु साधककी समतामें कर्तापनका भाव रहता है, इसलिये वह सिद्धकी समताकी अपेक्षा निम्नश्रेणीकी है। जैसे, भगवान्‌ने कहा है—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जायाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(गीता २। ३८)

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान करके अर्थात् इनको समान समझकर, उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा, इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा।'

यहाँ '**समे कृत्वा**'—'समान करके' ऐसा कथन होनेसे समत्वके साधनकालमें कर्तापनका भाव सिद्ध होता है, अतः यहाँ साधनकालकी समताका वर्णन है, सिद्धकी स्वाभाविक समताका नहीं। यह दोनों प्रकारकी समता ही हृदयका उत्तम गुण (सात्त्विक भाव) है। और यह बुद्धिके द्वारा समझमें आती है, अतः यह ज्ञेय है और ज्ञेय होनेसे जड है; क्योंकि ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयमें ज्ञान और ज्ञेय तो जड हैं तथा ज्ञाता चेतन है—इस न्यायसे जो समता बुद्धिकी वृत्तिके द्वारा समझमें आती है वह ज्ञेय है। अतः बुद्धिकी वृत्तिरूप ज्ञान और उस बुद्धिके द्वारा ज्ञेय समतारूप सात्त्विक उत्तम गुण (भाव) दोनों ही जड हैं। इसलिये गीता अ० ६ श्लोक २९ और अ० १२ श्लोक ४ में भी कथित साधन-कालकी समता बुद्धिके द्वारा ज्ञेय होनेसे जड है। तथा ज्ञाता जिस

बुद्धिके द्वारा ज्ञान और ज्ञेयको जानता है,वह बुद्धि भी जड है; किंतु बुद्धिवृत्तिसे रहित जो केवल आत्माका शुद्ध स्वरूप है, वह चेतन और सम है। ज्ञानयोग (अद्वैतवाद) में आत्मा और परमात्मा—ब्रह्म एक ही तत्त्व है। उस ब्रह्मका स्वरूप भी सम है, किंतु वह समता चेतन है, जड नहीं; क्योंकि वह ज्ञेय—अर्थात् मन-बुद्धिका विषय नहीं है, वह गुणोंसे अतीत है। जो मनुष्य उस सच्चिदानन्दघन शुद्ध ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, वह ब्रह्म ही बन जाता है; अतः वह उस चिन्मय समताको प्राप्त हो जाता है, किंतु उसके अन्तःकरणकी समता सत्त्वगुणमयी है। ऐसा होनेपर भी जिसका मन समभावमें स्थित है, उसकी आत्मा ब्रह्मको प्राप्त हो जाती है, इसलिये उसकी स्थिति देहमें नहीं है, ब्रह्ममें है। भगवान्‌ने कहा है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

(गीता ५। १९)

'जिनका मन समभावमें स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया है; क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम है, इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही स्थित हैं।'

यहाँ जो ब्रह्मको सम बतलाया गया है, यह ब्रह्मकी समता चेतन है; क्योंकि उस निर्विकार अनिर्देश्य ब्रह्मके स्वरूपकी समता बुद्धिके द्वारा नहीं जानी जा सकती । स्वयं ब्रह्म ही अपने-आपको जानता है।

इसलिये यह समता उपर्युक्त साधककी और सिद्धकी समतासे अत्यन्त विलक्षण है, अतः यह मन-बुद्धिका विषय नहीं है।

ऊपर बतलाया जा चुका है कि राग-द्वेषका नाश होनेसे ही समता

आती है; अतः राग-द्वेषका अभाव या समता एक ही वस्तु है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और सिद्धान्त आदिमें पदार्थों, क्रियाओं, भावों, परिस्थितियों और प्राणियों आदिके निमित्तसे जो अनुकूलता-प्रतिकूलता होती है, इससे अनुकूलतामें राग और प्रतिकूलतामें द्वेष होनेके कारण काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दुर्गुणों और झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार आदि दुराचारोंकी उत्पत्ति होकर साधकका पतन हो जाता है। अतः राग-द्वेषके नाशके लिये गीतामें बतलाये हुए उपर्युक्त कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग आदिमेंसे किसी साधनका आश्रय लेना चाहिये। चाहे राग-द्वेषका अभाव कहें या समभाव—एक ही बात है। जब राग-द्वेषका नाश हो जाता है, तब अनुकूलता-प्रतिकूलतामें समभाव स्वाभाविक ही हो जाता है। जैसे सिद्ध पुरुषमें स्वाभाविक समताका भाव ऊपर बतलाया गया है, वैसे ही उसमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकारोंका भी स्वाभाविक अभाव है। भगवान् कहते हैं—

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥

(गीता १२। १७)

'जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मोंका त्यागी है, वह भक्तियुक्त पुरुष मुझको प्रिय है।'

ऐसा भगवान्‌का अनन्य भक्त जो कुछ करता है, भगवान्‌की आज्ञा, प्रेरणा, संकेत और मनके अनुकूल ही करता है, उनके विरुद्ध नहीं करता। यदि विरुद्ध करता है तो वह भक्त ही नहीं। वह भगवान्‌के ही परायण और उन्हींपर निर्भर रहता है। भगवान् जो कुछ करते हैं, उसीमें वह मस्त रहता है। उसकी भगवान्‌में भक्ति—अनन्य प्रीति

स्वाभाविक ही होती है। अतः उसमें राग-द्वेषका अभाव स्वाभाविक होता है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

(११।५५)

'अर्जुन! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियोंमें वैरभावसे रहित है—वह अनन्य भक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है।'

वही सच्चा भक्त है, जो अपने मनकी अनुकूलता-प्रतिकूलताको छोड़कर भगवान्‌के शरण हो जाता है और कठपुतलीकी भाँति भगवान् जैसे नचाते हैं, वैसे ही नाचता है। भगवान् उसके लिये जो कुछ विधान करते हैं, उसीमें वह आनन्द और प्रसन्नताका अनुभव करता है। वह अनिच्छा और परेच्छासे प्राप्त हुए सुख-दुःख आदि पदार्थों और परिस्थितियोंको भगवान्‌का मङ्गलमय विधान मानता है या भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार मानता है। एवं अपनेद्वारा वर्तमानमें की हुई क्रियाके फलके सम्बन्धमें भी ऐसा ही समझता है; क्योंकि जीव कर्म करनेमें तो कुछ स्वतन्त्र है पर फल भोगनेमें सर्वथा परतन्त्र है। जैसे किसीने व्यापार करते समय माल खरीदा तो माल खरीदनेमें तो वह स्वतन्त्र है पर उसका फल जो नफा-नुकसान होता है, उसमें वह सर्वथा परतन्त्र है। अतः भगवान्‌ने अर्जुनसे यही कहा है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

(गीता २।४७)

'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलोंमें कभी नहीं; इस लिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो।'

भगवद्भक्त कर्मफलको भगवान्‌का विधान या पुरस्कार मानकर हर समय आनन्दमग्न रहता है। किंतु इसकी अपेक्षा भी वह अधिक श्रेष्ठ है जो प्राणी और पदार्थमात्रको भगवान्‌का स्वरूप एवं क्रिया और घटनामात्रको भगवान्‌की लीला समझकर आनन्दमें मग्न रहता है, जिससे वह दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन, निद्रा, आलस्य, प्रमाद, हर्ष, शोक आदि सम्पूर्ण विकारोंसे मुक्त होकर परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

इसी प्रकार जो स्त्री पतिको, पुत्र माता-पिताको, शिष्य गुरुको और साधक ज्ञानी महात्माको ईश्वरके समान समझकर अपने-आपको उनके समर्पण कर देता है, उनके किये हुए विधानको मङ्गलमय समझता है, अपनी अनुकूलता-प्रतिकूलतासे रहित होकर उनकी आज्ञा, प्रेरणा, संकेत और मनके अनुकूल चलता है, वह भी सम्पूर्ण अनर्थोंके मूल राग-द्वेषादि दोषोंसे रहित हुआ समभावको प्राप्त होकर परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

जैसे किसी स्त्रीकी सुन्दर वस्त्राभूषण और स्वादिष्ट भोजन आदि प्राप्त करनेकी इच्छा है, किंतु पतिके मनमें वैराग्य होनेसे वह इनको पसंद नहीं करता तो वह पतिव्रता बड़ी प्रसन्नतासे अपनी इच्छाका त्याग करके पतिकी इच्छाके अनुकूल ही कार्य करती है। इसी प्रकार किसी पतिव्रता स्त्रीके यदि घरका काम करना, किसीके कठोर वचनोंको सुनना या अन्य किसी प्रकारके कष्टप्रद कार्य करना प्रतिकूल हो तो भी पतिकी प्रसन्नताके लिये वह उस प्रतिकूलताका बड़ी प्रसन्नतासे परित्याग कर देती है। अभिप्राय यह कि जो अपने मनके अनुकूल है; किंतु पतिके

मनके प्रतिकूल है, वहाँ वह अपने मनकी अनुकूलताका त्याग कर देती है, जिससे मनकी अनुकूलतापर बार-बार आघात पड़नेसे वह नष्ट हो जाती है। तथा जो अपने मनके प्रतिकूल है, किंतु पतिके मनके अनुकूल है, वहाँ वह अपने मनकी प्रतिकूलताका त्याग कर देती है, जिससे मनकी प्रतिकूलतापर बार-बार आघात पड़नेसे वह भी नष्ट हो जाती है। इस प्रकार अपने मनकी अनुकूलता-प्रतिकूलता नष्ट हो जानेसे राग-द्वेषका नाश होकर समता आ जाती है और समतासे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

इसी प्रकार माता-पिताके अनुकूल हो जानेसे पुत्रका, गुरुके अनूकूल हो जानेसे शिष्यका एवं ज्ञानी महात्माके अनुकूल हो जानेसे साधकका राग-द्वेष नष्ट होकर उसमें समता आ जाती है, जिससे उसको परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

इसीलिये भक्त प्रह्लादने दैत्यबालकोंको उपदेश करते हुए अन्तमें यही कहा —

असारसंसारविवर्तनेषु मा यात तोषं प्रसभं ब्रवीमि।
सर्वत्र दैत्यास्समतामुपेत समत्वमाराधनमच्युतस्य॥
तस्मिन्प्रसन्ने किमिहास्त्यलभ्यं धर्मार्थकामैरलमल्पकास्ते।
समाश्रिताद् ब्रह्मतरोरनन्तान्निःसंशयं प्राप्स्यथ वै महत्फलम्॥

(विष्णुपु० १। १७। ९०-९१)

'दैत्यबालको! मैं आग्रहपूर्वक कहता हूँ, तुम इस असारसंसारके विषयोंमें कभी संतुष्ट मत होना। तुम सर्वत्र समदृष्टि करो; क्योंकि समता ही श्रीअच्युतकी आराधना है। उन अच्युतके प्रसन्न होनेपर फिर संसारमें दुर्लभ ही क्या है? तुम धर्म, अर्थ और कामकी इच्छा कभी न करना; वे तो अत्यन्त तुच्छ हैं। उस ब्रह्मरूप महावृक्षका आश्रय लेनेपर तो तुम निस्संदेह (मोक्षरूप) महाफल प्राप्त कर लोगे।'

इसलिये परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे हमलोगोंको कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, या सत्सङ्गके द्वारा राग-द्वेषका नाश करके उच्च-कोटिकी समता प्राप्त करनी चाहिये।

स्वेच्छा, परेच्छा और अनिच्छा *

संसारमें जो भी कार्यवाही होती है, उसके पीछे तीन इच्छाएँ रहती हैं। परेच्छा, स्वेच्छा और अनिच्छा। अनिच्छाको ही देवेच्छा कहते हैं, देवेच्छासे कोई कार्य हो तो उसमें चिन्ता करे ही नहीं बल्कि देख-देखकर हँसता ही रहे। देवेच्छासे जैसे कोई समझो कि मनके अनुकूल कार्य हो या प्रतिकूल कार्य हो तो अनुकूलमें तो सब हँसते रहते ही हैं किंतु प्रतिकूलमें भी हँसता ही रहे। देवेच्छा माने दैवी घटनासे अनायास कोई बात अपने मनके विपरीत हो गयी तो उसमें दुःख, शोक और चिन्ता हुआ करती है तो उस जगह खूब चित्तमें प्रसन्नता रखे। देवेच्छासे कोई अपना मकान गिर गया, मनके विपरीत कार्य हुआ, भूकम्प आ गया या कोई बाढ़ आ गयी या शहरमें महामारी फैल गयी, अपने घरमें कोई आदमी मर गया या घरमें आग लग गयी, किसी प्रकारकी कोई खराबी हो गयी, अपने शरीरमें बीमारी हो गयी, देवेच्छा माने अनिच्छा; उस अनिच्छासे अनिष्ट होवे तो उसमें चिन्ता हुआ करती है, भय होता है, उद्वेग होता है, दुःख होता है, तो उसमें उसके विपरीत चित्तमें प्रसन्नता माननी चाहिये, आनन्द मानना चाहिये या यह समझना चाहिये कि भगवान् जो कुछ करते हैं वह हमारे भलेके लिये ही करते हैं। इसमें हमारा हित भरा हुआ है, अमङ्गलको भी मङ्गल ही समझे तो चिन्ता आदि हों तो वे चिन्ता-भय-शोक भी वहाँसे

---

* यह लेख परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके प्रवचनके कैसेटसे सं॰ २०४८में नया तैयार किया गया है।

भाग जाते हैं। समझो कि मनके विपरीत घटना घट गयी तो रोनेसे क्या लाभ है ? कोई घरमें युवा पुरुष मर गया, लड़का ही मर गया तो रोनेसे वह लड़का वापस थोड़े ही आता है। आप चिन्ता करो, चाहे समझो कि कुछ भी लाभ नहीं है। तो ईश्वर-इच्छासे—देवेच्छासे कोई घटना घट जावे तो खूब आनन्द मनाना चाहिये, चाहे वह मनके कितना ही विपरीत हो।

परेच्छासे कोई ऐसी बात घट जाती है, दूसरेकी इच्छासे दूसरा कोई आदमी अपना अनिष्ट कर देता है, अपने मनके विपरीत कार्यवाही करता है, तब उसमें क्रोध आता है, दुःख भी होता है और द्वेष भी पैदा होता है, बदलेमें उसका अनिष्ट करनेकी इच्छा होती है, बैर-भाव होता है तो ये जो बैर-भाव है, द्वेष-भाव है, क्रोध है, ये सब अपने आत्माका पतन करनेवाले हैं। ऐसी परिस्थितिमें यह समझना चाहिये कि यह भगवान्‌का विधान है। भगवान्‌का हुकुम है, उसको भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार मानकर खुश होना चाहिये। जब भगवान्‌का भेजा पुरस्कार मान लेता है तो फिर वहाँ चिन्ता, शोक, भय नहीं आते। इस बातको समझानेके लिये एक दृष्टान्त दिया जाता है—भगवान् राम जब वनको चले गये तो कौसल्याने कैकेयीको दोष नहीं दिया और न मन्थराको ही दोष दिया। उन्होंने कहा कि यह तो मेरे दुर्भाग्यकी बात है, मेरे तकदीरकी बात है। तकदीरको हम भगवान्‌का विधान मान लें तो और भी आनन्द है। तकदीर बनाया तो भगवान्‌ने ही, तो भगवान्‌का विधान मान लेवे तो और भी उत्तम है। भगवान्‌का हुकुम मान लेवे तो और भी उत्तम है और भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार मान लेवे तो और भी उत्तम है और भगवान्‌की लीला मान लेवे तो विशेष उत्तम है। तो ये चार बातें जो मैंने कहीं, चारोंमें एक भी बात मान लेवे तो

बेड़ा पार है अर्थात् चिन्ता-शोक-भय तो उसके पास आते ही नहीं। उसके चित्तमें द्वेष-भाव, बैर-भाव, क्रोध-भाव—ये भी नहीं होते। होता यह है कि ये तो बिचारा पराधीन है, इसका क्या दोष है। यह एक प्रकारसे तो जो कुछ भी होता है भगवान्‌की मरजीसे होता है। ये बिचारा क्या कर सकता है, इसपर दोष लगाना गलती है कोई आदमी हमारा अनिष्ट कर देवे और वह पश्चात्ताप करे तो उसको आश्वासन देना चाहिये कि नहीं भैया! तुम्हारा इसमें कोई दोष नहीं है। यह तो भगवान्‌का ही विधान था। यह तो भगवान् हमारे ऊपर दया करके हमारे पापका फल भुगताते हैं। आप तो केवल निमित्तमात्र हैं। आपका बिलकुल भी कसूर नहीं है। इस प्रकारसे उन्हें खूब आश्वासन देना चाहिये। ख्याल करो कि श्रवणकुमार जो वैश्यका लड़का था और उसको राजा दशरथने बाण मार दिया और उसकी मरनेकी तैयारी है, किंतु राजा दशरथ अपने द्वारा इसे पाप-कर्म हुआ मान करके पश्चात्ताप करते हैं, घबराते हैं, तो उनको घबराते देख वह उनको आश्वासन देता है कि राजन्! आप कोई बातकी चिन्ता न करें। आपको ब्रह्म-हत्या नहीं लगेगी। मैं ब्राह्मणका बालक नहीं हूँ और अपने मरनेकी भी मुझको कोई चिन्ता नहीं है, इस प्रकारसे राजाको आश्वासन दिया। तो कोई आदमी अपना अनिष्ट कर दिया हो या भूलसे उससे अनिष्ट हो जाये तो उसको धीरज देना चाहिये। कोई भाई अपने घरपर मिलनेके लिये आया है और रास्तेमें पड़ी लालटेन हो और ठोकर लगनेसे उसका गोला (शीशा) फूट गया और वह पश्चात्ताप करता है तो उसको आश्वासन देना चाहिये भैया, तुम्हारा इसमें कोई दोष नहीं है, तुम तो आ रहे थे, रास्तेमें किसीने लालटेन रख दी, तो तुम्हारा क्या दोष है। तुम तो हमारा कभी अनिष्ट चाहते ही नहीं हो, खराबी करते

ही नहीं हो। यह तो एक प्रकारसे होनेवाली बात ऐसी ही थी तो हो गयी। इसपर आपको कोई विचार नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार किसीसे हमारा बड़ा काम खराब हो जावे, भावी अनिष्ट हो जावे, किसीको निमित्त बना करके उसको आश्वासन देना चाहिये, क्रोध नहीं करना चाहिये। जो मनुष्य इस रहस्यको समझ जाता है कि होनेवाली कोई घटना है जो कि होकर ही रहती है और वह किसीको निमित्त बना लेती है, चाहे कोई आदमी मरता है तो वह भी बीमारीको निमित्त बना ले, चाहे किसी मरनेवालेको निमित्त बना ले। मारनेवाला तो कोई निमित्त ही बनता है। किंतु एक प्रकारसे उसका कोई दोष नहीं है, जब मेरी आयु है तो हमारे दुश्मन चाहे कितना ही विपरीत कार्य करें कोई हमारेको मार नहीं सकता।

जाको राखै साइयाँ मार सकै न कोय।
बाल न बाँका कर सके जो जग बैरी होय॥

भगवान् जिसकी रक्षा करें उसको कोई नहीं मार सकता है, चाहे सारी दुनियाके लोग दुश्मन हो जायँ और मारनेका प्रयत्न करें। किंतु बाल भी बाँका नहीं कर सकते तो जो कुछ हमारा अनिष्ट होता है, वह तो हमारे प्रारब्धसे होता है और हम दोष दूसरेके माथेपर मढ़ते हैं, तो यह हमारी मूर्खता है। हर समय परिस्थिति मनके अनुकूल प्राप्त नहीं होती है, कभी प्रतिकूल भी होती है। यह तो होती ही रहती है, तो अनुकूलतामें हर्ष करना और प्रतिकूलतामें द्वेष करना या उद्वेग करना, क्रोध करना, भय करना यह मूर्खता है। तो जो भी कुछ कार्यवाही होती है अनिच्छासे या परेच्छासे उसमें हर समय खुश रहना चाहिये। जो अनिच्छासे, देवेच्छासे कोई घटना हमारे मनके विपरीत घटती है तो समझना चाहिये कि स्वयं भगवान् कर रहे हैं। भगवान्के

बिना, बतलाइये किसने किया। उन कर्ताको बतलाइये। फिर भी कोई कर्ता बन करके परेच्छासे हमारा कोई अहित कर रहा है तो यह समझना चाहिये कि यह भी भगवान्‌का विधान है, भगवान् ही करवा रहे हैं। निमित्त बना करके भगवान् ही करवा रहे हैं जैसे अर्जुनको निमित्त बना करके कौरवोंकी सेनाको भगवान्‌ने मरवा दिया। किंतु वास्तवमें भगवान्‌के द्वारा वह सेना पहलेसे ही मारी गयी थी (गीता ११। ३४)। अर्जुन तो केवल निमित्तमात्र बन गया। इसी प्रकार भगवान् किसीको निमित्त बना देते हैं और करते स्वयं हैं। कराते हैं भगवान् ही किंतु भगवान्‌को भी कोई दोष नहीं देना चाहिये; क्योंकि भगवान् तो हमारे प्रारब्धके अनुसार ही सब कुछ करते हैं। तो इस प्रकारके तत्त्वको समझनेपर फिर मनमें क्रोध नहीं आता।

इस विषयमें महाभारतमें एक कथा आती है—एक गौतमी नामकी ब्राह्मणी थी। उसके लड़केको काले नागने—साँपने काट लिया, वह इतना विषधर साँप था कि डँसनेके साथ ही लड़का क्षणमात्रमें मर गया। वहाँ एक अर्जुन नामका व्याध था उसने साँपको पकड़ लिया और पकड़कर उसे मारनेके लिये तैयार हुआ और उसने गौतमी ब्राह्मणीसे कहा—इसी साँपने तेरे लड़केको काटा है यदि तुम हुकुम दो तो इसे मैं मार डालूँ। वह बोली—इसके मारनेसे मेरेको क्या लाभ होगा, इस वास्ते इसको तुम मत मारो। व्याधने कहा—तुम न भी हुकुम दोगी तो भी मैं इसको मारूँगा, क्योंकि इस अन्यायीने बिना ही अपराध इस लड़केको मार डाला, तो मैं बर्दाश्त नहीं करूँगा। जब वह साँपको मारने लगा तो साँपने कहा—भाई तू मुझको क्यों मारता है, मृत्युने मुझको प्रेरणा दी, मैंने इसको मार डाला तो दोष तो मृत्युका है, मेरा कोई दोष नहीं। उसी समय मृत्यु देवता प्रकट हो गये। मृत्यु

स्वयं देवताके रूपमें प्रकट होकर कहने लगे—इसमें न तो इस साँपका दोष है और न मेरा ही दोष है, इसका काल आ गया, इसकी आयु समाप्त हो गयी तो कालने मेरेको प्रेरणा की तो मैंने इसको मार डाला। यह कहनेके साथ ही काल देवता प्रकट हो गये। काल देवताने कहा—न तो इस साँपका दोष है, न मृत्युका और न मेरा ही दोष है। हम तीनों ही निर्दोषी हैं। इसके पूर्वके कर्म ऐसे ही थे। इसके पूर्व किये हुए कर्मोंके अनुसार ही इसका प्रारब्ध बना, उस प्रारब्धने मुझको प्रेरणा की और मैंने मृत्युको प्रेरणा की, मृत्युने साँपको प्रेरणा की। इसलिये साँप, मृत्यु और मैं तीनों ही निर्दोष हैं। अर्थात् इसके कर्म ही ऐसे थे। यह निर्णय करके वे काल, मृत्यु वहीं अन्तर्धान हो गये और उस लड़केकी माता गौतमी ब्राह्मणीके अनुरोधसे उस अर्जुन नामक व्याधने उस साँपको छोड़ दिया। साँप चला गया।

इस निर्णयसे यह बात निकल आयी कि साँप, मृत्यु और काल—ये तीनों तो निमित्त बन गये और वास्तवमें हमारे अनिष्टमें हेतु जो है वह हमारे पहलेके किये हुए पाप ही होते हैं। हमारे कर्मोंसे प्रारब्ध बनता है तो जो कुछ होता है प्रारब्धसे होता है। प्रारब्धके बनानेवाले हैं भगवान्! समझो कि उस प्रारब्धका नाम ही भगवान्का विधान है। ज्ञानके मार्गमें उसे प्रारब्ध कहते हैं और भक्तिके मार्गमें उसको विधान कहते हैं और विधानका नाम ही भगवान्का आदेश है, कैसे भी हो जो कुछ भी दूसरा आदमी हमारा अनिष्ट करता है, वह निमित्तमात्र ही है और वास्तवमें बात यह है कि हमारे कर्मोंके अनुसार ही हमारा प्रारब्ध बना है याने हमारे कर्मोंके अनुसार ही भगवान्ने ऐसा विधान बना दिया है। जो कुछ होता है भगवान्के विधानसे ही होता है। इसलिये हमारे मनके विपरीत कोई कार्य अनिच्छासे या परेच्छासे हो तो उसमें आनन्द

मानना चाहिये। खूब प्रसन्नचित्त होना चाहिये और अनिष्ट करनेवाला जो है उसको आश्वासन देना चाहिये कि इसमें तुम्हारा कोई कसूर नहीं है, यह हमारे तकदीरकी बात है। यह ज्ञानकी बात है। भक्तिके मार्गमें भगवान्‌का विधान बतलाना चाहिये और मनमें भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार मानकर प्रसन्न होना चाहिये, आनन्द मानना चाहिये और उससे भी बढ़ करके यह बात है कि भगवान्‌की लीला हो रही है ऐसा समझ करके इसमें सदा प्रसन्न रहना चाहिये। अपने मनके विपरीत कार्यवाहीको देख-देखकर हर समय आनन्द मानना चाहिये। चाहे वह हमारे मनके विपरीत कार्यवाही हो, चाहे हमारा कोई दुश्मन करता हो, और चाहे देवेच्छासे अपने-आप ही वह कार्यवाही हो। अपने-आप ही जो कार्यवाही होती है उसके पीछे कोई कर्ता नहीं है तो क्रोध नहीं आता, दुःख तो होता ही है, चिंता होती है, वह भी हमारी मूर्खता है, वह बात जो होनेवाली है, वह हो करके ही रहेगी। इस बातको खयालमें लाकरके भी हमें दुःख नहीं करना चाहिये।

तीसरी इच्छा है—अपनी इच्छा। अपनी इच्छा तो करनी ही नहीं, इच्छाका त्याग ही कर देना चाहिये। इच्छा-कामना-वासना-लालसा-तृष्णा—ये उस इच्छाके ही भेद हैं। तो इच्छामात्र एक प्रकारसे दुःख देनेवाली है, जन्मको देनेवाली है, इसलिये किसी प्रकारकी मनमें कामना रखनी ही नहीं चाहिये। किसी प्रकारकी मनमें कामना करनी ही नहीं, हमारे पासमें रुपये हैं, हमारे पुत्र भी हैं और हमारा संसारमें मान भी है, सत्कार भी है, इसके और बढ़नेकी इच्छा भी करते हैं, हमारे और भी लड़का होवे, और भी धन होवे, और भी हमारी बड़ाई होवे, मान होवे तो इसका नाम तृष्णा है और मान-बड़ाईकी इच्छा है तो इसका नाम लोकैषणा है। पुत्रकी जो इच्छा है सो उस इच्छाका नाम

पुत्रैषणा है और धनकी इच्छाका नाम या धनसे होनेवाले जो पदार्थ हैं, उसकी इच्छाका नाम वित्तैषणा है। वित्त माने धन। ये जो तीनों प्रकारकी इच्छाएँ हैं, इनको तृष्णा कहते हैं। तृष्णा मनुष्यको जलाती रहती है। अतः तृष्णा करनी ही नहीं इससे थोड़ी हलकी जो चीज है उसका नाम कामना है—जो अभावमें होती है। हमारे पासमें रुपये भी हैं और मान-प्रतिष्ठा भी है किंतु कोई लड़का नहीं है वहाँ लड़केकी कामना होती है, लड़केकी जो इच्छा होती है उसको पुत्रकी कामना कहते हैं। यह भी एक प्रकारसे जलाती रहती है। कोई कामना करनेसे पुत्र होता नहीं, भाग्यमें होता है तभी होता है, कामना तो मात्र जलाती रहती है और इससे भी और हलकी जो कामना है उसको इच्छा कहते हैं, जैसे किसी चीजका अभाव है, दूसरा आदमी उसको देना चाहता है। जैसे हम भोजन करते हैं और दूसरा भाई परोसता है, लड्डू ले लो, जलेबी ले लो, कचौड़ी ले लो और हम ना-ना करते हैं। हमारे पत्तल या थालीमें जो चीज नहीं देखता है, उसके लिये आग्रह करता है और उसको लेनेकी थोड़ी मनमें मनसा भी है, तो उसका नाम वहाँ इच्छा है और वह पूछता है आपकी क्या इच्छा है ? तो वह कहता है कि नहीं, कोई इच्छा नहीं, तो इच्छा जो है वह और हलकी होती है। इसी प्रकार इच्छासे भी हलकी चीज आवश्यकता है। जब कोई आदमी किसी चीजकी आवश्यकता समझता है तो कहता है कि ये तो आप स्वीकार कर लो, कोई साधु है उससे कहो कि आपका कपड़ा फट गया है, इसको बदल लो, साधु कहता है, कोई आवश्यकता नहीं। बोले आवश्यकता तो है, पर आप बदलते नहीं, तो हम जबरदस्ती बदल देते हैं, तो एक आवश्यकताकी पूर्ति हुई उससे भी हलकी चीज वासना है। वासना उसका नाम है कि जिसमें मन बसे, पर न तो उसके लिये हम

इच्छा ही करते हैं और न कोई उसकी आवश्यकता ही समझते हैं, किंतु मनमें वह बात रहती है कि जो चीज हमारेको प्राप्त हुई है वह बनी रहे। उस बनी रहनेकी जो एक प्रकारसे कामना है उसका नाम वासना है। उससे भी और सूक्ष्म वासना होती है कि सारी दुनियाकी कोई परवाह नहीं किंतु मैं बना रहूँ, अपने-आपके लिये यह है कि मैं अभी जिन्दा रहूँ, मरूँ नहीं, इस प्रकारसे भीतरमें जो एक सूक्ष्म कामना है, उसका नाम भी एक प्रकारकी वासना है। यह सभी दुःख देनेवाली चीज है। किसी भी चीजकी मनमें इच्छा नहीं रखनी चाहिये। कोई इच्छा करता है जीनेकी तो कोई जी नहीं सकता, मरनेकी इच्छा करे तो मर नहीं सकता, तो इच्छा करना तो व्यर्थ ही है; न जीनेकी इच्छा करनी चाहिये न मरनेकी इच्छा करनी चाहिये। किसी भी बातकी इच्छा नहीं करनी चाहिये, जो कुछ हो रहा है, उसे देखता ही रहे।

गीता गङ्गासे भी बढ़कर है। शास्त्रोंमें गङ्गा-स्नानका फल मुक्ति बतलाया गया है। परन्तु गङ्गामें स्नान करनेवाला स्वयं मुक्त हो सकता है, वह दूसरोंको तारनेका सामर्थ्य नहीं रखता। किन्तु गीतारूपी गङ्गामें गोते लगानेवाला स्वयं तो मुक्त होता ही है, वह दूसरोंको भी तारनेमें समर्थ हो जाता है। गङ्गा तो भगवान्‌के चरणोंसे उत्पन्न हुई है और गीता साक्षात् भगवान् नारायणके मुखारविन्दसे निकली है। फिर गङ्गा तो जो उसमें आकर स्नान करता है उसीको मुक्त करती है, परन्तु गीता तो घर-घरमें जाकर उन्हें मुक्तिका मार्ग दिखलाती है। इन्हीं सब कारणोंसे गीताको गङ्गासे बढ़कर कहते हैं।

गीता गायत्रीसे भी बढ़कर है। गायत्री-जपसे मनुष्यकी मुक्ति होती है, यह बात ठीक है; किन्तु गायत्री-जप करनेवाला भी स्वयं ही मुक्त होता है, पर गीताका अभ्यास करनेवाला तो तरन-तारन बन जाता है। जब मुक्तिके दाता स्वयं भगवान् ही उसके हो जाते हैं, तब मुक्तिकी तो बात ही क्या है। मुक्ति उसकी चरणधूलिमें निवास करती है। मुक्तिका तो वह सत्र खोल देता है।

गीताको हम स्वयं भगवान्‌से भी बढ़कर कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

गीताश्रयेऽहं तिष्ठामि गीता मे चोत्तमं गृहम्।
गीताज्ञानमुपाश्रित्य त्रींल्लोकान् पालयाम्यहम्॥

(वाराहपुराण)

'मैं गीताके आश्रयमें रहता हूँ, गीता मेरा श्रेष्ठ घर है। गीताके ज्ञानका सहारा लेकर ही मैं तीनों लोकोंका पालन करता हूँ।'

—**गीता-तत्त्वविवेचनी** नामक पुस्तकसे